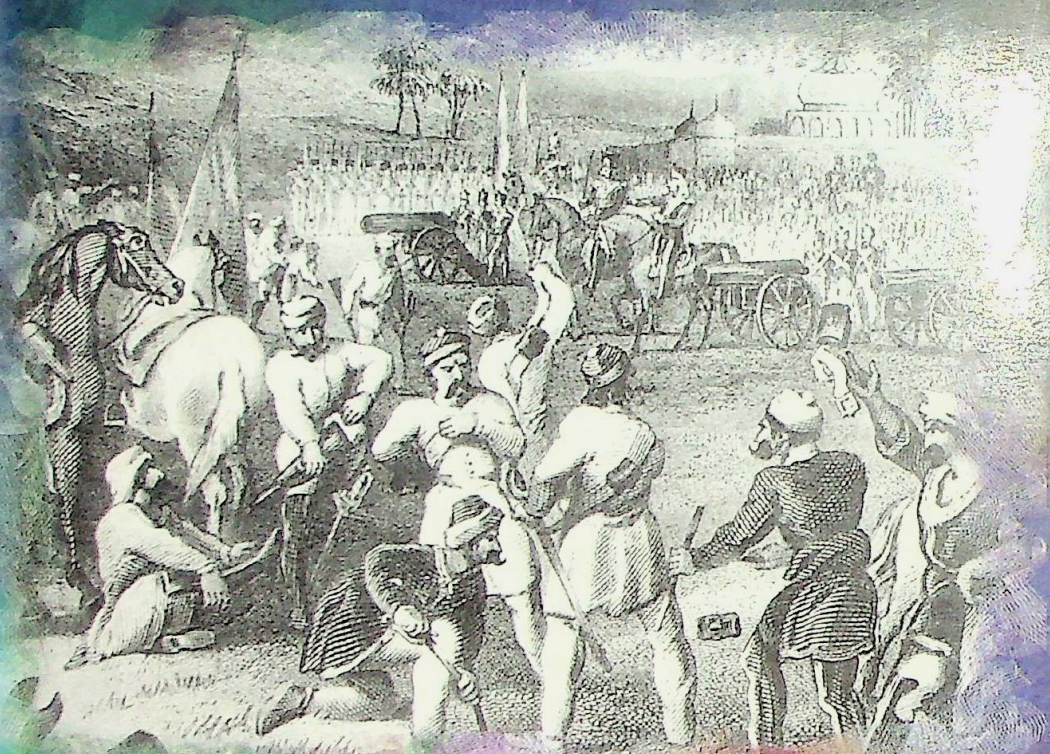




1857

इतिहास और साहित्य

SPS

954.0317 N 29 E



64811

निर्मल शर्मा

1857 : इतिहास और साहित्य

173
A152
1857 : इतिहास और साहित्य

1857 : It has Aur Sahitya

by
Nirmal Sharma.

निर्मल शर्मा

Akademik Prati-bha.
Delhi



अकादमिक प्रतिभा

दिल्ली-110031

H 954.0317
N 29 E

1857 इतिहास और साहित्य

© लेखक

सर्वाधिकार सुरक्षित

इस पुस्तक के किसी भी अंश का किसी भी रूप में चाहे इलेक्ट्रॉनिक
अथवा मैकेनिक तकनीक से, फोटोकॉपी द्वारा या अन्य किसी प्रकार
से पुनर्प्रकाशन अथवा पुनर्मुद्रण, प्रकाशक की पूर्व
अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता है।

आईएसबीएन : 978-81-907010-2-0

प्रकाशक : अकादमिक प्रतिभा
79-42, एकता अपार्टमेंट, गीता कालोनी
दिल्ली-110031 (भारत)
दूरभाष-011-22453953, 22445526, 9899242486
ई-मेल : books@indianacademicpublisher.com
वेबसाइट : www.academicpratibha.com

मूल्य : 300.00
प्रथम संस्करण : 2008
शब्दांकन : अनुज प्रिन्टर्स, दिल्ली
मुद्रक : एच. एस. प्रिन्टर्स, नई दिल्ली-110032

कॉमरेड बी. टी. रणदिवे
मास्टर जी अयोध्या सिंह
को
बहुत आदर सहित!

भूमिका

1857 : जन प्रतिरोध के डेढ़ सौ साल हो चुके हैं। यह समय केवल रस्मी तौर पर भारतीय इतिहास की इस परिघटना को याद करने का नहीं है। आज के समय में इसका महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि आज 1857 से पहले के भारत जैसी स्थितियाँ पुनः बन रही हैं। ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक शोषण ने जो परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं उनकी परिणति 1857 के विद्रोह के रूप में ही होनी थी। आज का समय भीषण अंतर्विरोधों का समय है।

निर्मल शर्मा ने अपनी इस पुस्तक में ठीक ही कहा है कि 1857 के कंपनी राज के जुल्म का शिकार बुनकर हुए थे। हथकरघा उद्योग मैनचेस्टर की भेंट चढ़ गया और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने करघा उद्योग तथा बुनकरों को बर्बाद कर दिया। कुछ इसी तरह की स्थितियाँ हम 21वीं सदी के भारत में भी देख रहे हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश के बुनकर जिन विपन्न स्थितियों में जी रहे हैं, आत्महत्या करने पर मजबूर हो रहे हैं वह किसी से छिपा नहीं है। पश्चिम से आयातित विकास की अंधी दौड़ का सबसे सीधा असर किसानों पर हुआ है। विदर्भ, आंध्र, कर्नाटक, मध्य प्रदेश आदि स्थानों पर किसान आये दिन आत्महत्या कर रहे हैं। सरकार उन्हें संरक्षण देने में विफल रही है। कर्ज माफी का ऐलान समस्या का हल नहीं है।

आज आर्थिक उपनिवेशवाद भारत की राजनीति और सामाजिक जीवन को अपने चंगुल में जकड़ रहा है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, एशिया विकास बैंक तथा अन्य वैश्विक वित्तीय संस्थायें एक ओर अरबों डॉलर के कर्ज देकर भारत के विकास में महती भूमिका निभा रही हैं, वहीं दूसरी ओर सार्वजनिक क्षेत्र के मुनाफा देने वाले उद्योगों तक को बेचने और निजी क्षेत्र में देने की नीति अपनाई जा रही है। आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर हो रहे भारत को पंगु बनाकर उसे पश्चिमी देशों के उपनिवेश के रूप में अपने प्रभाव क्षेत्र में लेने के प्रयास निरंतर जारी हैं। हमारी निर्भरता विदेशी अर्थनीति पर बढ़ती जा रही है। अमेरिकन बाजार की मण्डी का असर हमारी अर्थव्यवस्था पर तुरंत पड़ता है।

ये ही वे दुरावस्थायें हैं जो हमें कंपनी राज के इतिहास पर दृष्टि डालने और एक बार फिर से उन परिस्थितियों का विश्लेषण करने की जरूरत पैदा कर रही हैं। आज वैश्विक स्तर पर हम अधिक से अधिक पश्चिमी राष्ट्रों पर निर्भर हो रहे हैं तो दूसरी ओर सामाजिक जीवन में विघटनकारी शक्तियाँ प्रभावी होकर सामाजिक ताना-बाना भ्रष्ट कर रही हैं। जातिवाद और सांप्रदायिकता के सवाल आज नये सिरे से समस्या के रूप में सामने आ रहे हैं। इसके लिए भारत की पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्विरोध जिम्मेदार हैं।

1857 का विद्रोह न तो केवल सामंतों का, न सिर्फ सिपाहियों का और न ही केवल धार्मिकता के सवालों पर लड़ा गया विद्रोह था। मार्क्स ने सबसे पहले 1857 को, भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कहा था।

हमारे कुछ विद्वानों का कहना है कि यह तो भारतीय सामंतों का अपनी सत्ता पुनः प्राप्त करने का आंदोलन था। इसमें आम जनता की कोई भागीदारी नहीं थी। यदि वह क्रांति सफल हो जाती तो भारत का आधुनिकीकरण नहीं हो सकता था। वे अक्सर एक तर्क यह भी देते हैं कि इस आंदोलन में दलितों का कोई प्रतिनिधित्व था ही नहीं! और चूंकि हिन्दी प्रदेशों में कोई बड़ा विद्रोह नहीं हुआ इसलिए यहाँ साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ अधिक सक्रिय हैं।

1857 का विद्रोह जिसने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें हिलाकर रख दी थीं की उसकी पृष्ठभूमि लंबे समय से निर्मित हो रही थी। सामान्य जनता ब्रिटिश शोषण से त्रस्त थी। 1857 से पहले 1816 ई. का बरेली विद्रोह, 1820-36 का कोल विद्रोह, 1851-55 में मोपला और संथाल विद्रोह हुए थे। सैनिक असंतोष के मूल में ब्रिटिश आर्थिक नीतियाँ बहुत गहरे धंसी हुई थीं।

इतिहासकार विपिनचन्द्र ने अपनी पुस्तक 'भारत का स्वतंत्रता संघर्ष' में एक सैनिक अधिकारी द्वारा डलहौजी को लिखे एक पत्र के माध्यम से इंगित किया है—“हमारी सेना देश के किसानों के बीच से बनी है, किसान के कुछ अधिकार हैं। यदि इनके अधिकारों का हनन हुआ तो हम ज्यादा दिनों तक सेना पर भरोसा नहीं कर सकेंगे। यदि आप भारतीय जनता की संस्थाओं पर कुठाराघात करेंगे तो सेना भारतीय जनता की हमदर्द हो जायेगी क्योंकि वह इसी के बीच से बनी है। किसी भी व्यक्ति के अधिकारों के हनन का मतलब है किसी न किसी सैनिक के अधिकारों का हनन क्योंकि हर सैनिक किसी न किसी का या तो बाप है या बेटा या भाई या दूर का रिश्तेदार” (पृ.5)।

अंग्रेजों द्वारा लागू नये भू-राजस्व कानून ने सैनिकों को बहुत प्रभावित किया था। वास्तव में ईस्ट इंडिया कंपनी का एक ही मकसद था, ज्यादा से ज्यादा कर वसूल करना। लगान केवल ऊँचा ही नहीं था बल्कि उसे वसूल करने का तरीका भी

बर्बरतापूर्ण था। नई व्यवस्था में भूमिकर सालाना फसल के बदले जमीन के आधार पर रुपये के रूप में निर्धारित होने लगा जिसे हर हालत में पूरा करना पड़ता था। फिर चाहे फसल अच्छी हुई हो या बर्बाद हो गयी हो। भूमिकर वसूल करने की जो दर निर्धारित की जाती थी वह इतनी ऊँची थी कि किसान बर्बाद हो गये और उनके पास भोजन तथा कपड़े की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी धन न रहा।

ब्रिटिश शोषण के प्रति असंतोष की अभिव्यक्ति ही 1857 के विद्रोह के रूप में हुई जिसमें अपने-अपने कारणों से किसान, दस्तकार, धर्मगुरु, सामंत और दूसरे वर्गों के आमजन शामिल थे। कहा जा सकता है कि सिपाहियों द्वारा प्रारंभ किया गया विद्रोह आम जनता का विद्रोह बन गया था।

जहाँ भी किसान और कारीगर लड़े, वहाँ यह विद्रोह बहुत दिनों तक चला। अवध, मध्य प्रदेश और राजस्थान का कुछ हिस्सा और बिहार के कुँवर सिंह तथा उनके भाई ने ब्रिटिश सेनाओं को नाकों चने चवाने पर मजबूर कर दिया। अंग्रेजों के विरुद्ध उन्होंने सीधी लड़ाई न लड़कर गुरिल्ला युद्ध लड़ा। ब्रिटिश सेनाओं के लिए यह नयी लड़ाई थी। क्रांतिकारियों के लिए अपना क्षेत्र पूरी तरह परिचित था। अंग्रेजों के लिए यहाँ के गाँव-देहात के रास्ते, नदी, पहाड़ नाले जंगलों के मार्ग अपरिचित थे। अवध की बेगम हज़रत महल के सैनिकों और वहाँ के किसान कारीगरों ने ब्रिटिश सेनाओं को लगातार हैरान-पेशान किया। बेगम हज़रत महल अंततः अपने सैनिकों के साथ नेपाल चली गई और ब्रिटिश सेनाएँ पकड़ नहीं पाई क्योंकि देश का साधारण-जन उनके साथ था। ऊदादेवी पासी थीं और किसान-वर्ग से थीं। उन्होंने भी अंग्रेजों को खूब छकाया। इसलिए यह कहना कि ये लोग सामंती थे और सामंती शासन की पुनः स्थापना करते, भ्रामक है।

कानपुर-लखनऊ के रास्ते में जिन लोगों को पेड़ों पर फाँसी दी गयी, वे किसान-मजदूर और कारीगर ही थे। दो लोगों के नाम के बिना यह संग्राम अधूरा ही माना जाएगा। एक, अजीमुल्ला खाँ, जो कूटनीतिज्ञ थे। उनका विद्रोह की भूमिका में बहुत बड़ा हाथ था। दूसरे, बख्त खाँ, जो रुहलेखंड के क्रांतिकारियों के सेनापति थे।

अजीमुल्ला खाँ और फैजुल्ला खाँ तथा रहमत अली खाँ तीनों ही बहादुर थे लेकिन, फैजुल्ला खाँ नैतिकता की सभी सीमाएँ लाँचकर नवाब आसफउदौला के पक्ष में खड़े थे। रहमत खाँ नवाब की सेनाओं से लड़ते-लड़ते मारे गए। फैजुल्ला खाँ को इसी वफादारी के कारण रामपुर की नवाबी मिली और रहमत अली खाँ की कटार मीरनपुर की ज़ायदाद को उसने 2 करोड़ रु. में अंग्रेजों के हाथों बेच दिया। यह किस्सा 1775 ई. का है।

इन्हीं के परिवार में एक महानायक का भी जन्म हुआ जिसका नाम था-मुहम्मद बख्त खाँ। 1857 की क्रांति के वह एक प्रकार से नायक हैं। उनकी 'बरेली ब्रिगेड'

से अंग्रेज धरति थे। अंग्रेजों के जनरल बर्नार्ड और रीड, 'ब्रिगेड' से आतंकित रहते थे। एक समय वे अंग्रेजों के काले तोपखाने के सूबेदार हुआ करते थे। 2 जुलाई 1857 को जब वे अपनी बरेली ब्रिगेड के साथ दिल्ली पहुँचे तो वहाँ महाविद्रोह की असंगठित और अव्यवस्थित प्रशासनिक और सैनिक शक्ति को एकजुट और प्रभावी बनाने के लिए बहादुरशाह ने उन्हें जनरल के पद पर दिल्ली शहर का प्रशासक बना दिया। मौ. बख्त खाँ ने यह जिम्मेदारी अमीर-गरीब सभी को, समान न्याय-व्यवस्था लागू कर निभायी। यह बात राजपरिवार के लोगों के लिए असह्य थी। दिल्ली का कुलीन वर्ग एक किसान के नेतृत्व में युद्ध के लिए तैयार नहीं था। हिन्दी के प्रसिद्ध रचनकार मदन दीक्षित ने पहली बार जनरल बख्त खाँ के वास्तविक शौर्य का वर्णन अपने नाटक 'साँझ के साये' में किया है जो पिछले दिनों छपकर आया है। अफसोस है, कि 2006 में मदन दीक्षित का देहान्त हो गया और पुस्तक उनके जीवन-काल में नहीं आ सकी। उन्होंने अपने नाटक में सामंतों की दोहरी नीतियों और संघर्ष की अन्दरूनी स्थिति का यथार्थ वर्णन किया है। ग्वालियर, इंदौर, निजाम, पंजाब के जींद, नाभा और पटियाला तथा राजपूत शासकों ने भी अंग्रेजों का साथ दिया। देश की सामान्य हिन्दू-मुसलमान जनता क्रांतिकारियों के साथ थी।

जनरल बख्त खाँ, चूँकि किसी राजपरिवार से नहीं थे, इसलिए उनका विरोध अमीरजादे अधिक कर रहे थे, जबकि आम-जन उनके साथ थे। इसका कारण था, जनरल बख्त खाँ का यह ऐलान कि-“कानून खासो-आम सभी के लिए समान रूप से काम करेगा।” नवाबजादे, बख्त खाँ को रुहेलखण्ड का 'जाहिल और गँवार' समझते थे। लिहाजा राज-परिवार के कुछ लोग, बादशाह के खिलाफ हो गये जिनमें उनके समथी मिर्जा इलाही बख्त खाँ खुर्शीद बेग तथा मिर्जा दिलशाद अली भी शामिल थे। वे अंग्रेजों के साथ हो गए। इन्हीं लोगों के कारण, बहादुरशाह को जेल हुई। वे रंगून भेज दिए गए। उनके दोनों बेटों की शहादत हुई।

1957 में भारत के प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम की शताब्दी के अवसर पर उर्दू में राही मासूम रजा का महाकाव्य '1857 की क्रान्ति कथा' आया। राही ने इसे किसानों, कारीगरों तथा साधारणजन का मुक्तिसंग्राम कहा है। उस समय किसानों, कारीगरों को सबसे ज्यादा प्रताड़ित किया जाता था। इसलिए उन्होंने हथियार उठाए और वे ही अन्त तक लड़ते रहे। सामंत केवल अपने अधिकारों के लिए लड़ रहे थे। इस क्रान्ति में कई शहर नष्ट हो गए। दिल्ली पर जो गुजरी उसकी कहानी गालिव ने बतलाई है। उनके अनुसार अंधेरे में एक आशा की किरण ये है "हिन्दु-मुसलमान में सद्भाव है और वे एक दूसरे की पूरी मदद कर रहे हैं" गालिव ने स्वयं कहा है कि यदि मेरे पाँच हिन्दू मित्रों ने मेरी सहायता न की होती तो मेरा क्या होता. यह खुदा ही जानता है।

10 / 1857 : इतिहास और साहित्य

यह विद्रोह औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध था और इसका क्षेत्र बहुत व्यापक था। केवल हिन्दी क्षेत्र ही नहीं बल्कि आंध्र तक यह मुक्ति संग्राम फैला हुआ था। इस महाविद्रोह ने यह भी सिद्ध कर दिया कि देश की साधारण जनता जब आततायी के विरोध में खड़ी हो जाती है तो झुकना नहीं जानती। अंग्रेजों ने जितने अत्याचार किए हैं इतिहास में उनका दूसरा उदाहरण नहीं मिलता है। केवल कुछ लोगों के नाम लिये जाते हैं जबकि हजारों की संख्या में लोगों ने बलिदान दिया। अंग्रेजों के अत्याचार के बाद भी जनता किसी न किसी भाँति प्रतिरोध करती रही और 1905 में बंगाल विभाजन के विरोध में पूरी जनता लामबंद हो गई थी। इन्हीं जनांदोलनों के कारण ब्रिटिश सरकार को देश छोड़ना पड़ा।

1857 की एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि इसका नेतृत्व दो महिलाओं ने ही किया-बेगम हजरत महल तथा रानी लक्ष्मीबाई। ये दोनों राजपरिवार में आने से पहले साधारण परिवारों में रहती थीं। इस आंदोलन में इन दोनों ने अंत तक साधारणजन को साथ लेकर संघर्ष की मशाल जलाए रखी। यह दोनों पतनशील सामंतवाद का उसी प्रकार अंग नही बन पाई, जिस प्रकार दिल्ली की रानियाँ बन गई थीं। रानी लक्ष्मीबाई के बारे में बहुत चर्चा हुई लेकिन बेगम हजरत महल की ओर कम ध्यान दिया गया। लखनऊ की हार के बाद अवध के देहातों में चली गई और वहाँ विद्रोह की चिन्गारी फैला दी। इसमें उन्हें समाज के निचले वर्ग का सबसे अधिक सहयोग मिला जिनमें पासी प्रमुख थे। इन पासियों में उदा देवी तथा राजा बिजली पासी के नाम उल्लेखनीय हैं।

झांसी की रानी का महत्व इसलिए है कि उन्होंने महिलाओं की पल्टन बनाई जिसका नेतृत्व उनकी दो सहयोगियों ने किया। इनमें झलकारी बाई कोली तथा अवन्तीबाई लोधी थीं। दलित तथा पिछड़े वर्ग की ये दोनों सहयोगी न होतीं तो लक्ष्मीबाई की मृत्यु उनके महल में ही संभव थी। किसी भी बड़े सामंत ने इन क्रान्तिकारियों की मदद नहीं की। उनका दमन जरूर किया। इनमें इंदौर तथा ग्वालियर के सामंत प्रमुख थे। कुलीन हमेशा जनविरोधी रहे हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर यह बात अधिसंख्य कुलीनों पर लागू होती है।

इस किताब, “1857 : इतिहास और साहित्य” में इस जन संघर्ष के इतिहास और साहित्य के अन्तःसंबंधों पर दिलचस्प अध्ययन किया गया है। निर्मल शर्मा, मूलतः पत्रकार और लेखक हैं। रतलाम उनका कार्यक्षेत्र रहा। वहीं से ‘कंक’ नाम की एक पत्रिका वह निकालते थे। वह अकेली ऐसी पत्रिका थी जिसने शील, मुक्तिबोध जैसे रचनाकारों को महत्व दिया। मुक्तिबोध पर, 1980 में लगभग एक अंक प्रकाशित किया तथा गोष्ठी आयोजित की जिसमें पुराने लोगों में शील जी के साथ अन्य नौजवान लोग थे। ‘कंक’ ने युवा रचनाकारों को बहुत प्रोत्साहन दिया। ‘कंक’ पर

से अंग्रेज थरति थे। अंग्रेजों के जनरल बर्नार्ड और रीड, 'ब्रिगेड' से आतंकित रहते थे। एक समय वे अंग्रेजों के काले तोपखाने के सूबेदार हुआ करते थे। 2 जुलाई 1857 को जब वे अपनी बरेली ब्रिगेड के साथ दिल्ली पहुँचे तो वहाँ महाविद्रोह की असंगठित और अव्यवस्थित प्रशासनिक और सैनिक शक्ति को एकजुट और प्रभावी बनाने के लिए बहादुरशाह ने उन्हें जनरल के पद पर दिल्ली शहर का प्रशासक बना दिया। मौ. बख्त खाँ ने यह जिम्मेदारी अमीर-गरीब सभी को, समान न्याय-व्यवस्था लागू कर निभायी। यह बात राजपरिवार के लोगों के लिए असह्य थी। दिल्ली का कुलीन वर्ग एक किसान के नेतृत्व में युद्ध के लिए तैयार नहीं था। हिन्दी के प्रसिद्ध रचनकार मदन दीक्षित ने पहली बार जनरल बख्त खाँ के वास्तविक शौर्य का वर्णन अपने नाटक 'साँझ के साये' में किया है जो पिछले दिनों छपकर आया है। अफसोस है, कि 2006 में मदन दीक्षित का देहान्त हो गया और पुस्तक उनके जीवन-काल में नहीं आ सकी। उन्होंने अपने नाटक में सामंतों की दोहरी नीतियों और संघर्ष की अन्दरूनी स्थिति का यथार्थ वर्णन किया है। ग्वालियर, इंदौर, निजाम, पंजाब के जौंद, नाभा और पटियाला तथा राजपूत शासकों ने भी अंग्रेजों का साथ दिया। देश की सामान्य हिन्दू-मुसलमान जनता क्रांतिकारियों के साथ थी।

जनरल बख्त खाँ, चूँकि किसी राजपरिवार से नहीं थे, इसलिए उनका विरोध अमीरजादे अधिक कर रहे थे, जबकि आम-जन उनके साथ थे। इसका कारण था, जनरल बख्त खाँ का यह ऐलान कि-“कानून खासो-आम सभी के लिए समान रूप से काम करेगा।” नवाबजादे, बख्त खाँ को रुहेलखण्ड का 'जाहिल और गँवार' समझते थे। लिहाजा राज-परिवार के कुछ लोग, बादशाह के खिलाफ हो गये जिनमें उनके समथी मिर्जा इलाही बख्त खाँ खुर्शीद बेग तथा मिर्जा दिलशाद अली भी शामिल थे। वे अंग्रेजों के साथ हो गए। इन्हीं लोगों के कारण, बहादुरशाह को जेल हुई। वे रंगून भेज दिए गए। उनके दोनों बेटों की शहादत हुई।

1957 में भारत के प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम की शताब्दी के अवसर पर उर्दू में राही मासूम रजा का महाकाव्य '1857 की क्रान्ति कथा' आया। राही ने इसे किसानों, कारीगरों तथा साधारणजन का मुक्तिसंग्राम कहा है। उस समय किसानों, कारीगरों को सबसे ज्यादा प्रताड़ित किया जाता था। इसलिए उन्होंने हथियार उठाए और वे ही अन्त तक लड़ते रहे। सामंत केवल अपने अधिकारों के लिए लड़ रहे थे। इस क्रान्ति में कई शहर नष्ट हो गए। दिल्ली पर जो गुजरी उसकी कहानी गालिब ने बतलाई है। उनके अनुसार अंधेरे में एक आशा की किरण ये है “हिन्दु-मुसलमान में सद्भाव है और वे एक दूसरे की पूरी मदद कर रहे हैं” गालिब ने स्वयं कहा है कि यदि मेरे पाँच हिन्दू मित्रों ने मेरी सहायता न की होती तो मेरा क्या होता .यह खुदा ही जानता है।

10 / 1857 : इतिहास और साहित्य

यह विद्रोह औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध था और इसका क्षेत्र बहुत व्यापक था। केवल हिन्दी क्षेत्र ही नहीं बल्कि आंध्र तक यह मुक्ति संग्राम फैला हुआ था। इस महाविद्रोह ने यह भी सिद्ध कर दिया कि देश की साधारण जनता जब आततायी के विरोध में खड़ी हो जाती है तो झुकना नहीं जानती। अंग्रेजों ने जितने अत्याचार किए हैं इतिहास में उनका दूसरा उदाहरण नहीं मिलता है। केवल कुछ लोगों के नाम लिये जाते हैं जबकि हजारों की संख्या में लोगों ने बलिदान दिया। अंग्रेजों के अत्याचार के बाद भी जनता किसी न किसी भाँति प्रतिरोध करती रही और 1905 में बंगाल विभाजन के विरोध में पूरी जनता लामबंद हो गई थी। इन्हीं जनांदोलनों के कारण ब्रिटिश सरकार को देश छोड़ना पड़ा।

1857 की एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि इसका नेतृत्व दो महिलाओं ने ही किया—बेगम हजरत महल तथा रानी लक्ष्मीबाई। ये दोनों राजपरिवार में आने से पहले साधारण परिवारों में रहती थीं। इस आंदोलन में इन दोनों ने अंत तक साधारणजन को साथ लेकर संघर्ष की मशाल जलाए रखी। यह दोनों पतनशील सामंतवाद का उसी प्रकार अंग नही बन पाई, जिस प्रकार दिल्ली की रानियाँ बन गई थीं। रानी लक्ष्मीबाई के बारे में बहुत चर्चा हुई लेकिन बेगम हजरत महल की ओर कम ध्यान दिया गया। लखनऊ की हार के बाद अवध के देहातों में चली गई और वहाँ विद्रोह की चिन्गारी फैला दी। इसमें उन्हें समाज के निचले वर्ग का सबसे अधिक सहयोग मिला जिनमें पासी प्रमुख थे। इन पासियों में उदा देवी तथा राजा बिजली पासी के नाम उल्लेखनीय हैं।

झांसी की रानी का महत्व इसलिए है कि उन्होंने महिलाओं की पल्टन बनाई जिसका नेतृत्व उनकी दो सहयोगियों ने किया। इनमें झलकारी बाई कोली तथा अवन्तीबाई लोधी थीं। दलित तथा पिछड़े वर्ग की ये दोनों सहयोगी न होती तो लक्ष्मीबाई की मृत्यु उनके महल में ही संभव थी। किसी भी बड़े सामंत ने इन क्रान्तिकारियों की मदद नहीं की। उनका दमन जरूर किया। इनमें इंदौर तथा ग्वालियर के सामंत प्रमुख थे। कुलीन हमेशा जनविरोधी रहे हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर यह बात अधिसंख्य कुलीनों पर लागू होती है।

इस किताब, “1857 : इतिहास और साहित्य” में इस जन संघर्ष के इतिहास और साहित्य के अन्तःसंबंधों पर दिलचस्प अध्ययन किया गया है। निर्मल शर्मा, मूलतः पत्रकार और लेखक हैं। रतलाम उनका कार्यक्षेत्र रहा। वहीं से ‘कंक’ नाम की एक पत्रिका वह निकालते थे। वह अकेली ऐसी पत्रिका थी जिसने शील, मुक्तिबोध जैसे रचनाकारों को महत्व दिया। मुक्तिबोध पर, 1980 में लगभग एक अंक प्रकाशित किया तथा गोष्ठी आयोजित की जिसमें पुराने लोगों में शील जी के साथ अन्य नौजवान लोग थे। ‘कंक’ ने युवा रचनाकारों को बहुत प्रोत्साहन दिया। ‘कंक’ पर

दो कविताएँ जनकवि शील ने लिखी हैं जो बहुत लोकप्रिय हुईं। निर्मल ने परेशानी के दौर में इंदौर आकर पत्र-पत्रिकाओं में काम किया किन्तु उनकी सक्रियता में कोई कमी नहीं आयी। वही ठहाके, वही मौज-मस्ती।

मुझे खुशी है कि बहुत समय बाद, उनकी हँसी सुनने को मिली है। '1857 : इतिहास और साहित्य' पुस्तक में उन्होंने बहुत व्यवस्थित ढंग से साहित्य, समाज और क्रांति के अन्तःसंबंधों को व्यक्त किया है। 'इतिहास' के अन्तर्गत, उन्होंने 13 शीर्षकों में इतिहास को बाँटा है, 'ग्राम समाज' व्यवस्था, कंपनी का मायाजाल, श्रेष्ठता बोध बनाम हीनता बोध, ग़दर नहीं था—1857, चर्बी युक्त कारतूस तो महज़ बहाना था, देश उजड़ा, कंपनी बढ़ी, दो पाटन के बीच, रोटी और कमल, सिमटा रहा महाविद्रोह, दिल्ली बनाम अवध, बादशाह पर मुकदमा, सेंट्रल इंडिया में विद्रोह और लोक नायक टंट्या! साहित्य का खण्ड पाँच भागों में विभक्त किया गया है—1857 : ग़ालिव और दस्तम्बू, 1857 : पत्र-पत्रिकाएँ, भारतेन्दु का साहित्य, प्रभाव जो नोट किये गए तथा 1857 : लील गया बाज़ार।

1857 : ग़ालिव और दस्तम्बू पर बड़े विस्तार से उन्होंने चर्चा की है। ग़ालिव को उन्होंने पूरे अन्तर्विरोधों के साथ प्रस्तुत नहीं किया है, केवल एक पक्ष ही ग्रहण किया है। भारतेन्दु के बारे में उन्होंने महत्वपूर्ण जानकारीयों पहली बार दी हैं। पत्र-पत्रिकाओं के विषय में उन्होंने गहन अध्ययन कर नई जानकारीयों दी हैं। उन्होंने अपने तर्कपूर्ण विवेचन द्वारा यह स्थापित करने का सफल प्रयास किया है कि यह न तो धार्मिक आन्दोलन था, न सामंतों की पुनर्स्थापना का प्रयास। कारतूस की थ्योरी महज़ बहाना थी वर्ना वे ही सिपाही अंग्रेजों के विरुद्ध उन्हीं कारतूसों का प्रयोग कैसे कर रहे थे? अगर 1857 न होता तो 1947 में हमें स्वतंत्रता प्राप्त न होती। जो लोग 1857 में बहुत अंतर्विरोध देखते हैं उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन के अन्तर्विरोध दिखायी नहीं देते। वहाँ भी, भाँति-भाँति के लोग थे। हिन्दू भी थे, मुसलमान भी थे भगतसिंह जैसे क्रांतिकारी थे और वामपंथी भी थे, लेकिन, उद्देश्य एक था कि—अंग्रेज चले जाएँ। देश कैसा बनेगा? यह साफ नहीं था। निर्मल शर्मा की यह पुस्तक '1857 : इतिहास और साहित्य' छोटे कलेवर की है किन्तु महत्वपूर्ण सूचनाएँ देती हैं। पाठक को सोचने पर विवश करती है। निर्मल की यह तो मुस्कान है। अट्टहास सुनने के लिए तैयार रहें।

28-एम.आई.जी.

अवन्तिका-1

रामघाट रोड

अलीगढ़-202001

कुँवरपाल सिंह

अनुक्रम

भूमिका

5

इतिहास

1. 'ग्राम समाज' व्यवस्था?	17
2. कंपनी का माया जाल...	21
3. 'श्रेष्ठता बोध बनाम हीनता बोध'!	23
4. गुदर नहीं था-1857	26
5. चर्बी युक्त कारतूस तो महज़ बहाना थे!	30
6. देश उजड़ा, कंपनी बढ़ी...	34
7. दो पाटन के बीच	42
8. रोटी और कमल	45
9. सिमटा रहा महाविद्रोह	48
10. दिल्ली बनाम अवध	52
11. बादशाह पर मुकदमा	57
12. सेण्ट्रल इंडिया में विद्रोह	63
13. लोक नायक : टंट्या!	73

साहित्य

14. 1857 : ग़ालिब और दस्तम्बू	95
15. 1857 : पत्र-पत्रिकाएँ	105
16. भारतेन्दु का साहित्य	111
17. प्रभाव जो नोट किये गए!	119
18. 1857 : लील गया बाज़ार	124
संकेतिका	128

“हाथ की चक्की हमें एक समाज देती है
जहाँ सामंत होता है और भाप की चक्की
हमें एक दूसरा समाज देती है
जहाँ औद्योगिक पूँजीपति होता है।”

—माक्स

॥ इतिहास ॥

1. The first part of the book is devoted to a
general survey of the history of the
Hindu religion and the development of
the various sects and schools of thought.

U. NISHTH

‘ग्राम समाज’ व्यवस्था?

भारत में अंग्रेज व्यापारियों के आगमन से पहले तक ‘आत्मनिर्भर ग्राम-समाज’ व्यवस्था थी। इसकी प्रमुख विशेषता यह थी कि एशिया के अन्य देशों की भाँति भूमि यहाँ व्यक्तिगत संपत्ति नहीं थी। उसका स्वामी ‘ग्राम समाज’ ही होता था। न तो कोई सामंत, सरदार न कोई किसान। ऊपर निरंकुश राजा होता था जो ‘ग्राम समाज’ से कर वसूल करने के लिए सामंत सरदारों को नियुक्त करता था। जबकि यूरोप में इसका ठीक उलटा था। वहाँ सामंत सरदार ही सर्वेसर्वा हुआ करते थे। वे न केवल भूमि के बल्कि भूमि पर बसने वालों के भी मालिक होते थे।

भारत में प्रचलित इस ‘ग्राम समाज’ व्यवस्था के प्रति सर चार्ल्स मेटकॉफ (जो 1835 में भारत के गवर्नर जनरल बने थे) ने लिखा था—‘ग्राम समुदाय छोटे-छोटे गणतंत्र हैं अपनी जरूरत की सारी चीजें इन्हें यहाँ प्राप्त हैं और विदेशी संबंधों से ये मुक्त हैं जहाँ कुछ भी स्थायी नहीं, वहाँ ये जैसे अकेले अमर हैं। राजकुल लुढ़कते रहे, क्रांतियाँ होती रहीं, हिंदू, पठान, मुगल, मराठा, सिख, अंग्रेज क्रमशः मालिक बनते रहे लेकिन ग्राम समुदाय यथापूर्व बने रहे।’”

प्रकट है कि भारत में कितने ही युद्ध और राजनीतिक परिवर्तन हुए। अनेकों साम्राज्य बने और बिगड़े पर ‘ग्राम समाज व्यवस्था’ जस की तस रही। विश्व प्रसिद्ध चिंतक कार्ल मार्क्स ने अपने ग्रंथ ‘पूँजी’ में इसके रूप को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा—

“हिंदुस्तान के वे छोटे-छोटे तथा अत्यंत प्राचीन ग्राम-समुदाय (समाज), जिनमें से कुछ आज तक कायम हैं, जमीन पर सामूहिक स्वामित्व, खेती तथा दस्तकारी के मिलाप और एक ऐसे श्रम विभाजन पर आधारित हैं जो कभी नहीं बदलता, और जो जब कभी एक नया ग्राम समुदाय (समाज) आरंभ किया जाता है तो पहले से बनी बनाई और तैयार योजना के रूप में काम आता है। सौ से लेकर कई हजार

एकड़ तक के रकबे में फैले हुए इन ग्राम समुदायों (समाजों) में से प्रत्येक एक गठी हुई इकाई होता है जो अपनी जरूरत की सभी चीजें पैदा कर लेती है। पैदावार का मुख्य भाग सीधे तौर पर समुदाय के ही उपयोग में आता है, और वह माल का रूप धारण नहीं करता। इसलिए यहाँ पर उत्पादन उस श्रम विभाजन से उत्पन्न होता है जो माल के विनिमय ने मोटे तौर पर पूरे हिंदुस्तानी समाज में चालू कर दिया है। केवल अतिरिक्त उत्पादन ही माल बनता है और यहाँ तक कि उसका भी एक हिस्सा उस वक्त तक माल नहीं बनता जब तक वह राज्य के हाथों में नहीं पहुँच जाता। अत्यंत प्राचीन काल से ही यह रीति चली आ रही है कि इस उत्पादन का एक निश्चित भाग सदा जिंस की शक्ल में दिए जाने वाले लगान के तौर पर राज्य के पास पहुँच जाता है। हिंदुस्तान के अलग-अलग हिस्सों में इन समुदायों (समाजों) का विधान (गठन) अलग-अलग ढंग का है। जिनका सबसे सरल विधान (गठन) है, इन समुदायों (समाजों) में जमीन को सब मिलाकर जोतते हैं और पैदावार सदस्यों के बीच बाँट ली जाती है। इसके साथ-साथ हर कुटुंब में सहायक धंधों के रूप में कटाई और बुनाई होती है। इस प्रकार, उन आम लोगों के साथ-साथ, जो सदा एक ही प्रकार के काम में लगे रहते हैं, एक 'मुखिया' होता है जो जज, पुलिस और वसूलदार का काम एक साथ करता है, एक पटवारी होता है जो खेती-बाड़ी का हिसाब रखता है और उसके बारे में हर बात अपने कागजों में दर्ज करता जाता है, एक और कर्मचारी होता है जो अपराधियों पर मुकदमा चलाता है, अजनबी मुसाफिरों की हिफाजत करता है और उनको अगले गाँव तक सकुशल पहुँचा आता है, एक पहरेदार होता है जो पड़ोस के समुदायों (समाजों) से सरहद की रक्षा करता है, आबपाशी का हाकिम होता है जो सिंचाई के लिए पंचायती तालाबों से पानी बाँटता है, ब्राह्मण होता है जो धार्मिक अनुष्ठान कराता है, पाठशाला का पंडित होता है जो बच्चों को बालू पर लिखना-पढ़ना सिखाता है, पंचांग वाला ब्राह्मण या ज्योतिषी होता है जो बोआई और कटाई और खेत के अन्य हर काम के लिए मुहूर्त विचारता है, एक लोहार और एक बढई होते हैं जो खेती के तमाम औजार बनाते हैं और उनकी मरम्मत करते हैं, कुम्हार होता है जो सारे गाँव के लिए बर्तन-भांडे तैयार करता है, नाई होता है, धोबी होता है जो कपड़े धोता है, सुनार होता है और कहीं-कहीं पर कवि भी होता है जो कुछ समुदायों (समाजों) में सुनार का, कुछ में पाठशाला के पंडित का स्थान ले लेता है। इन एक दर्जन व्यक्तियों की जीविका पूरे समुदाय (समाज) के सहारे चलती है। अगर आबादी बढ़ जाती है तो खाली पड़ी जमीन पर पुराने समुदाय (समाज) के ढाँचे के मुताबिक एक नए समुदाय की नींव डाल दी जाती है। पूरे ढाँचे से एक सुनियोजित श्रम विभाजन का प्रमाण मिलता है। इन आत्मनिर्भर ग्राम

समुदायों (समाजों) में जो लगातार एक ही रूप के समुदायों (समाजों) में पुनः प्रकट होते रहते हैं और जब अकस्मात् बरबाद हो जाते हैं तो उसी के स्थान पर और नाम से फिर खड़े हो जाते हैं, उत्पादन का संगठन बहुत ही सरल ढंग का होता है और उसकी यह सरलता ही एशियाई समाजों की अपरिवर्तनशीलता की कुंजी है, उस अपरिवर्तनशीलता की जिसके बिल्कुल विपरीत एशियाई राज्य सदा बिगड़ते और बनते रहते हैं और राजवंशों में होने वाले परिवर्तन तो मानो कभी रुकते ही नहीं। राजनीति के आकाश में जो तूफानी बादल उठते हैं वे समाज के आर्थिक तत्त्वों के ढाँचे को नहीं छू पाते।”² इस वैज्ञानिक तथा वस्तुगत विश्लेषण से दो तीन बातें बहुत स्पष्ट हैं। पहली—इन प्राचीन ग्राम समुदायों का मुख्य अवलंब खेती किसानी ही था। अतिरिक्त उत्पादन ही ‘माल’ बनता था। कताई बुनाई सहायक धंधे के रूप में थे। दूसरी बात—इन ग्राम समुदायों अर्थात् समाजों का गठन एक कसी हुई यूनिट (इकाई) के रूप में होता था जो अपनी जरूरत की सभी चीजें पैदा कर लिया करती थीं। इन्हें संचालित करने वाले तंत्र की भी स्पष्ट व्याख्या हमें इस विश्लेषण में देखने को मिलती है और तीसरी—प्रायः बनी रहने वाली राजनीतिक अस्थिरता इन समाजों के आर्थिक ढाँचे को छू भी नहीं पाती थी। अर्थात् आर्थिक संगठन इतना स्वतंत्र और मजबूत होता था कि ये ग्राम समुदाय निर्विघ्न काम करते रहते थे।

तथापि इस प्राचीन ग्राम समाज व्यवस्था के रहते हुए भी दस्तकारी के साथ ही अन्य उद्योग धंधों ने भी अच्छी-खासी पैठ बना ली थी। खूब तरक्की हुई थी और दुनिया के बाजारों में भारतीय माल की अच्छी धाक थी। देखें वी. एफ. कैलवर्टन का एक नोट :

“तीव्र बुद्धि, सूक्ष्म योग्यता और सर्जनात्मक प्रतिभा के फलस्वरूप भारतीय उद्योग पाश्चात्य देशों से काफी आगे बढ़े हुए थे। शुरू की उन शताब्दियों में, जब पाश्चात्य नौ परिवहन सर्वथा अविकसित था, भारत ने भारी बोझ ढोने वाले समुद्री जहाज बनाए थे—वस्त्र निर्माण हिंदुस्तान का प्रमुख उद्योग था और यहाँ के सूती और रेशमी कपड़ों की सारी दुनिया में तारीफ और माँग थी। तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में धातुकार्य, प्रस्तरशिल्प, शक्कर, नील और कागज के भी उद्योग विकसित थे। कुछ भागों में काष्ठ कर्म, मिट्टी के पात्रों आदि का निर्माण चमड़े का कार्य करने वाले उद्योग भी पल्लवित हुए थे। ...देश के अनेक हिस्सों में रंगाई प्रमुख उद्योग था, कुछ भागों में जरी का काम और कसीदाकारी का काम पूर्णता के चरम बिंदु तक विकसित था। खानों से रांगा, पारा और कुछ हद तक लोहा निकालने और शीशे के निर्माण कार्य भी महत्वपूर्ण और विकसित उद्योग थे। बहुत सारे यात्रियों ने भारत में निर्मित लोहे और रासायनिक उद्योगों की प्रशंसा की है। चीन की तरह

ही भारत में भी चीनी की मिट्टी के बर्तनों का उद्योग काफी विकसित था। हाथी दांत के गहने, पलंग आदि अनेक चीजें बनती थीं और सारी दुनिया में, खासकर यूरोप में इनकी बड़ी माँग थी। बेशकीमती पत्थरों पर किए गए काम में भी बड़ी कुशलता के प्रमाण मिलते हैं।¹⁷³

देश की संपन्नता और समृद्धि ही तो उसका मूल्यांकन तय करता है। भारत को इसी समूह-अवस्था के कारण ही 'सोने की चिड़िया' कहा जाता रहा होगा? यह स्थिति अधिक पुरानी नहीं होकर हमारे निकट अतीत की ही है। 'सोने की चिड़िया' का प्रतीक हो या 'घी-दूध की नदियों' वाली उपमा उन्हें उनकी अंतरंगता में समझना होगा। इन विश्लेषणों ने एक बात तो साफ कर दी कि हमारे यहाँ व्यापारी पूँजीपति वर्ग तो पैदा हो चुका था जिसका औद्योगिक पूँजीपति वर्ग में संतरण नहीं हुआ था।

ऐसा हो पाता कि उससे पहले ही फ्रांसीसी, ब्रिटिश व अन्य शक्तिशाली, सशस्त्र पूँजीपतियों के गुटों ने यहाँ पहुँच कर उस शान्ति को नष्ट कर दिया। उनके बीच तीव्रतर होती गई इस प्रतिस्पर्धा ने भारत पर आर्थिक तथा राजनीतिक अधिकार की जंग को अधिक तीक्ष्ण बनाया जिसमें ब्रिटिश पूँजीपति सफल हुए और वे भारत पर काबिज हो गए। भारतीय समाज व्यवस्था का तेजी से खलन होने लगा। आत्मनिर्भर ग्राम समाज व्यवस्था चरमराने लगी। भारत में अनेक राजनीतिक परिवर्तन और हमले हुए पर इस ग्राम समाज व्यवस्था का रूप नहीं बदला था किंतु ब्रिटिश पूँजीपतियों ने उसे छिन्न-भिन्न कर दिया। वर्षों से चली आ रही इस व्यवस्था का पतन हो गया।

जिन ब्रिटिशर्स ने अपने देश में सामंतवाद को ध्वस्त कर आधुनिक पूँजीवादी राष्ट्र की स्थापना की थी उनके भाप के इंजिन और मुक्त व्यापार ने भारत के चरखे और करखे को तोड़ डाला जो हमारी ग्राम समाज व्यवस्था की इकॉनामी के मुख्य आधार थे। भारत पर ब्रिटेन के ढंग की सामंती व्यवस्था लाद दी। उत्तर में जमींदारी प्रथा तो दक्षिण में रैयतवारी प्रथा लागू की। जमींदारों का जहाँ एक नया वर्ग उत्तर में पैदा किया और उन्हें जमीन का मालिक बनाया वहीं दक्षिण में किसानों को जमीन का मालिक बनाया। इस तरह पुरानी आत्मनिर्भर ग्राम समाज व्यवस्था को जिसमें जमीन का कोई स्वामी नहीं होता था खंड-खंड कर भूमि को व्यक्तिगत एवं पण्य वस्तु बना दिया। इसे हम कृषि का वाणिज्यीकरण भी कह सकते हैं क्योंकि अब उसकी खरीद-फरोख्त की जा सकती थी। भारत का कृषि उत्पादन तथा हस्त उद्योग का मिश्रित स्वरूप पटिये पर आ गया था।

□□

कंपनी का माया जाल...

1656 में बंगाल के तत्कालीन सूबेदार शाहजादा शूजा ने तो 1717 में मुगल बादशाह फर्रुखसियर ने 'ईस्ट इंडिया कंपनी' को व्यापार के लिए आज्ञापत्र जारी कर दिए। मात्र तीन हजार रुपया सालाना चुका कर साल भर के लिए कंपनी बेफिक्र हो जाया करती थी। आयात-निर्यात शुल्क से वर्ष भर हेतु पूर्णतया मुक्त। मीर जाफर ने तो एक कदम और आगे बढ़ाते हुए कंपनी को आंतरिक व्यापार के दौरान भी हर तरह के शुल्क से छूट प्रदान कर दी थी। अर्थात् लूट की खुली छूट पा गयी थी 'ईस्ट इंडिया कंपनी'!

अलबत्ता, मीर कासिम इस लूट की तह तक पहुँच चुका था और उसके विरुद्ध रोकथाम भी करना चाहता था। उसके इन इरादों को कंपनी ताड़ गयी थी। इससे पहले कि बहुत देर हो जाती और मीर कासिम रोकथाम कर पाने के अपने इरादों में सफल हो जाता कंपनी ने न केवल उसकी नवाबी ही गला दी बल्कि उसे अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ा। 1687 और 1690 के बीच स्वयं औरंगजेब ने बहुत बड़ी सेना ले कर कंपनी की घेराबंदी कर कंपनी को दबोचने की भरसक कोशिश की पर उसे अपने इरादों में सफलता नहीं मिली। तब तक शायद बहुत देर हो चुकी थी।

भारत में कंपनी की गतिविधियों को ब्रिटिश संसद का भी पूर्ण समर्थन था। 1700 से 1720 के बीच ब्रिटिश संसद ने दो अलग-अलग बिल (विधेयक) पास किए जिनके द्वारा भारत में बने सूती और रेशमी कपड़ों के इस्तेमाल को ब्रिटेन में कानूनन प्रतिबंधित कर दिया गया। इतना ही नहीं बल्कि उनके इस्तेमाल को 'दंडनीय-अपराध' तक करार दे दिया गया। इसके विपरीत ब्रिटेन से भारत को कपड़े का निर्यात खोल दिया गया। पहले तो चुंगी कम की गई फिर धीरे-धीरे उसे समाप्त ही कर दिया गया।

अर्थात् भारत का सूती रेशमी कपड़ा ब्रिटेन जाना प्रतिबंधित हो गया किंतु ब्रिटेन का कपड़ा भारत में लाकर बेचने की पूरी छूट दे दी गई। ब्रिटेन के मार्केट

में स्तरीय भारतीय कपड़े की चुनौती खत्म और भारतीय मार्केट में ब्रिटेन का अपेक्षया सस्ता व मशीनों से बना कपड़ा बिना किसी चुँगी या कर के बिक्री हेतु उपलब्ध था। ब्रिटेन के व्यापारियों की बन आई थी। फिर भी भारतीय स्तरीय कपड़े की माँग दुनिया के बाजार में बराबर बनी रही। जो भारतीय कपड़ा ब्रिटेन में कानूनन प्रतिबंधित था उसे ही ब्रिटिश व्यापारी दुनिया के बाजार में ले जाकर बेचते थे और अधिक मुनाफा कमाते थे।

इसी सिलसिले में चीजों को और गहराई में जाकर अच्छे-से समझने के लिए मार्क्स के इस विश्लेषण पर कृपया नज़र डालें—

“सन् 1818 और 1836 के बीच ग्रेट ब्रिटेन से हिन्दुस्तान को भेजे जाने वाले सूत की मात्रा 5,200 गुना बढ़ चुकी थी। 1824 में अंग्रेजी मलमल का हिन्दुस्तान को निर्यात अधिकतम 10 लाख गज रहा होगा वह 1837 में बढ़कर 6,40,00,000 गज से भी अधिक तक पहुँच चुका था।”...

कपड़ा उद्योग हेतु प्रसिद्ध भारतीय नगर तबाह-ओ-बर्बाद होने लगे थे। ‘ईस्ट इंडिया कंपनी’ का गठन 17वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में ही हो चुका था। 1686 तक तो कंपनी को टकसाल एवं कोर्ट की शक्तियाँ भी मिल चुकी थीं। ब्रिटिश संसद की कंपनी पर पकड़ निरन्तर बनी रहती थी। इसलिए जब 1698 में समानान्तर ईस्ट इंडिया कंपनी बनी तो 1702 में ब्रिटिश संसद द्वारा एक विधेयक पारित कराकर दोनों ही कंपनियों का मर्जर करा दिया गया ताकि लूट (जिसे वे व्यापार कहते आए हैं) की शक्ति बँटे नहीं और भारतीय धन अधिक से अधिक ब्रिटेन पहुँचता रहे। इसतरह हम कंपनी के मायाजाल में फँसते गए। कंपनी का शिकंजा दिन-ब-दिन कड़ा होता गया।

□□

‘श्रेष्ठता बोध बनाम हीनता बोध’!

अंग्रेजों में यह श्रेष्ठता बोध विद्यमान था कि वे उत्कृष्ट संस्कृति, श्रेष्ठ नस्ल और पश्चिमी सभ्यता व ज्ञान विज्ञान तथा साहित्य का प्रसाद बाँटने का कार्य सम्पन्न करके पूर्व के पिछड़ों पर उपकार कर रहे हैं। आज भी इंडियन उनके लिए ‘ब्लडी/ब्लैक या स्टुपिड’ ही बने हुए हैं। यही उनका हीनता बोध साबित हुआ। वे अपना प्रशासन इसी नैतिकता के चलते भारत तथा अन्य औपनिवेशिक देशों में ‘इन्वेस्ट’ कर रहे थे। उन्होंने कई सुधार कर के इसी पवित्र धारणा के चलते लागू भी किये थे।

उनके समय में भू-राजस्व दो सौ से बढ़ा कर तीन सौ, चार सौ व पाँच सौ तक वसूला जाता रहा। चौकीदारी कर दो से दस गुना तक कर दिया गया। कई कारीगरों व बुनकरों के धंधे चले गये। लाखों की संख्या में भारतवासी अपनी जरूरतों से वंचित हो गये। सड़क का टोल-प्रति जीव 6 पाई, प्रति गाड़ी 4 से 6 आना सभी चुकाते रहे। काम के लिए लोग जहाँ-तहाँ भटकते रहते थे। ग्राम समाज व्यवस्था भंग कर दी गई थी। भूमि को पण्य वस्तु बना दिया गया था। बिकाऊ माल!

“हाथ की चक्की हमें एक समाज देती है जहाँ सामंत होता है और भाप की चक्की हमें एक दूसरा समाज देती है जहाँ औद्योगिक पूँजीपति होता है।”

इतिहास को आप तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि आप उसके दृष्टिकोण को न समझ लें जिसके चलते (याद रहते) वह लिखा गया है। और दृष्टिकोण की जड़ें, लिखने वालों की ऐतिहासिक व सामाजिक पृष्ठभूमि में निहित होती हैं। ‘मुक्ति’ की कामना से संचालित इस महाविद्रोह अथवा जन-विप्लव को महज बलवा, गदर या सिपाही विद्रोह कहने वालों के दृष्टिकोण को समझना होगा। उनकी सामाजिक व ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को तलाशना होगा। क्योंकि “गंभीर राजनीति जन साधारण के पास से, लाखों करोड़ों के पास से शुरू होती है न कि हजारों के पास से।”⁵

क्या था 1857? क्यों और कैसे घटित हुआ 1857? इन प्रश्नों का सीधा-सादा, साधारण-सा व सपाट उत्तर तो यही है कि चर्बी युक्त कारतूस ने हिन्दू-मुस्लिम सिपाहियों की भावनाओं को भड़का दिया था, इसलिए हो गया 1857! यह कुछ और नहीं महज बलवा था! मात्र गदर था, केवल सिपाही विद्रोह!

ये सिपाही कौन थे? क्या ये नियमित आर्मी थे? उत्तर मिलेगा नहीं। वे नियमित सेना के सैनिक या सिपाही नहीं होकर सामंतों, जमींदारों, राजाओं और नवाबों के आकस्मिक सिपाही थे जो फुर्सत के दिनों में खेती, किसानों, दस्तकारी, बुनाई, कताई व कारीगरी भी कर लिया करते थे जिन्हें हमले के दिनों में एकत्रित कर लिया जाता था व सिपाही कहकर बुलाया जाता था। ब्रिटिशर्स की नियमित सेना के साथ भी ऐसे देशी सिपाही व रंगरूट रखे जाते थे। तुलनात्मक रूप से इन्हें न्यूनतम वेतन व अल्प सुविधाएँ ही दी जाती थीं जो कालांतर में जाकर असंतोष का एक बड़ा कारण बना। इन देशी सिपाहियों को अपनी नौकरी से ऊपर अपने धर्म की चिंता अधिक सताती रहती थी। धर्म और नौकरी में ठन जाने पर वे नौकरी को लात मारने में कतई देर नहीं लगाते थे। एक विद्वान ने तो शायद इसीलिए इसे 'ईसाइयत के विरुद्ध लड़ाई' कह कर, स्वाधीनता के इस प्रथम महासमर को सीमित करते हुए दिशा ही बदलने का प्रयास किया!

भारत सरकार ने भी स्वाधीनता संग्राम की इस पहली लड़ाई के सौ वर्ष पूर्ण होने पर इतिहासकार सुरेन्द्रनाथ सेन को यह जिम्मा सौंपा कि जरा इसके कारणों में तो जाइये! वे गए। उन्होंने सविस्तार एक पुस्तक लिखी—'1857'। तत्कालीन शिक्षामंत्री मौलाना अब्दुलकलाम आजाद ने स्वयं उसकी विस्तृत भूमिका लिखी और स्वाधीनता की उस पहली लड़ाई पर प्रकाश डाला।

यह लेख (अब पुस्तक) लिखते हुए हमने भी कई देशी-विदेशी इतिहासकारों को पढ़ा तथा अंतर समझने की कोशिश की तो हमने पाया कि चूँकि यह संग्राम सुविचारित, सुसंगठित, नियमित भले ही नहीं रहा हो, दोआब, सेंट्रल इंडिया व दिल्ली तथा उत्तर भारत तक ही सीमित रहा था किन्तु अपने लक्ष्य 'कंपनी राज की खानगी' में अवश्य ही यह सफल रहा। हालाँकि यह एक तरह से ठीक ही हुआ जो कंपनी राज की खानगी पर सत्ता सामंतों, रजवाड़ों-नवाबों, जागीरदारों व जमींदारों के हाथों में नहीं आकर महारानी के हाथों में चली गयी। 1857 के महासमर से जो जज्बा, आज़ादी के लिए मरने मारने तथा मर मिटने की जो भावना, लोगों में बनी थी वह निरंतर कायम रही। संघर्ष जारी रहा तथा 1947 में हमने विदेशी हुकूमत से आजादी तो पा ली। अन्यथा देशी राजा सामंत व जमींदार हमारे लिए कितनी मुसीबतें खड़ी करते! तब 1947 हमसे कितना दूर हो जाता?

देशी और विदेशी इतिहासकारों, विद्वानों के उस धड़े की अपेक्षा—जो 1857 को मात्र गदर, बलवा अथवा सिपाही विद्रोह तक सीमित करते हैं—वहीं रशियन, समाजवादी (स्वयं मार्क्स एंगल्स, लेनिन सहित अन्य मार्क्सवादी चिंतक) इतिहासकार 1857 को लेकर हमारा अधिक प्रखरता से मार्गदर्शन करते हैं। वे इसे 'भारत की जनता का इंग्लैण्ड के विरुद्ध विद्रोह'—जन संघर्ष मानते हैं। इन विद्वानों ने समय-समय पर हमारे स्वाधीनता संग्राम की प्रमुख घटनाओं पर भी अपने विचार प्रकट किये। 1857 की कमजोरियों पर भी अंगुली रखी। उन्हें इंगित किया जो उसकी पराजय का कारण बने थे।

यद्यपि 1857 के विद्रोह को दबा दिया गया तथापि वह भारत में उन्नीसवीं सदी के इतिहास की अत्यंत महत्वपूर्ण घटना थी जिसने ब्रिटिश सत्ता को जबर्दस्त आघात पहुँचाया। एंगल्स के अनुसार—“किन्तु यह दूसरी विजय भारतीय जनमानस पर इंग्लैण्ड के आधिपत्य को बढ़ा न सकी। ब्रिटिश सेना की निर्मम, दंडात्मक कार्रवाइयों, जिन्हें कथित रूप में भारतीयों द्वारा किये गये अत्याचारों के अतिरंजित तथा मनगढ़न्त किस्सों से और बढ़ावा दिया गया और अवध की रियासत को एक साथ या टुकड़े कर के छीनने के प्रयत्नों ने विजेताओं के प्रति तनिक भी सहानुभूति नहीं जगायी उल्टे (और इससे खुद अंग्रेज भी स्वीकार करते हैं) हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के बीच बिन बुलाए आये ईसाइयों के प्रति पहले से चली आती नफरत और भी गहरी हो गयी।....

1857 के बाद भारत में अंग्रेज बहुत ही सतर्क रहने लगे। इसी तरह से अन्य तथ्यों और विश्लेषणों से गुजर कर हमने 'महासमर' के इस 150वें वर्ष में स्वाधीनता के इस पहले स्वाधीनता संग्राम का पता लगाने की कोशिश की है।



ग़दर नहीं था-1857

न तो 1857 अनायास था न किसी तात्कालिक घटना की उत्तेजना का परिणाम। बलवा, ग़दर या महज सिपाही-विद्रोह तो वह बिलकुल नहीं था। संदर्भ से काट कर देखने पर हम उस 'महाविद्रोह' या 'जन-विप्लव' के साथ न्याय नहीं कर सकेंगे। मेरी तो कम से कम यही धारणा है।

इतिहास न तो आँकड़ों का मकड़जाल है न ही मात्र अतीत का लेखा-जोखा। इतिहास बजाते खुद कोई लड़ाई नहीं लड़ता। वह कुछ नहीं करता। वह कोई पाठ नहीं पढ़ता। न उसकी पूर्व कल्पना ही की जा सकती है। न वह राजवंशों की जय-पराजय का दस्तावेज ही होता है। इतिहास विशिष्ट और असाधारण अध्ययन को अपना विषय बनाता है। जिन्दा कौमें, वास्तविकता और जीवित मनुष्य ही इतिहास का नियंता होता है। वे ही उसे आगे बढ़ाते हैं। क्योंकि वे ही इतिहास के सच्चे वाहक होते हैं।

एक वर्ग विभक्त समाज में क्या कला, न्याय और इतिहास भी प्रायः सत्ता के चाकर नहीं होते? उनसे आप निष्पक्षता की उम्मीद कैसे कर सकते हैं? अपने आकाओं की खुशी, उनकी पसन्द-नापसन्द ही उनका गुण-धर्म बन जाती है। हालाँकि, उन्हें सदैव विपक्ष में रहना चाहिए तथा जन साधारण के हक में क्रान्तिकारी भूमिका निभाना चाहिए।

इतिहास के तथ्य आमतौर पर वे तथ्य होते हैं जिन्हें इतिहासकार विवेचना के लिए चुनते हैं। वे अपने युग के मूल्यों से प्रभावित इतिहासकारों द्वारा अभीप्सित व्याख्या के लिए किए गए चुनाव का ही परिणाम होते हैं।

1806 में गवर्नर जनरल जॉर्ज बालों ने सिपाहियों के लिए कुछ प्रावधान लागू किये ताकि वे स्मार्ट दिखें भी सही। भौंहों और मूँछों की छँटाई तथा टोप में तुर्रा/कलगी लगाने जैसी सतही कार्रवाई को लागू किया गया। यहीं से सिपाहियों की धार्मिक भावनाएँ आहत होना शुरू हुईं। वेलोर के विद्रोह का आधार भी यही था। सिपाहियों के लिए धर्म सर्वोपरी था। रोजी से भी ऊपर।

26 / 1857 : इतिहास और साहित्य

1824 अर्थात् ठीक 18 वर्षों बाद बर्मा के युद्ध के समय भी ऐसी ही स्थितियाँ बनी थीं। 'समुद्र-पार' जाने में बंगाली सिपाहियों का अंधविश्वास धार्मिक रूढ़ि आड़ में आ गई। विवाद बढ़ा। सिपाहियों ने मार्च करने से इंकार कर दिया। इस पर कमांडर इन चीफ एडवर्ड पेगेट उबल पड़े। उन्होंने इस प्रयास को 'अवज्ञा' माना। यूरोपियन ट्रुप को साथ लेकर वे बैरकपुर पहुँचे और सिपाहियों को मार्च करने या फिर हथियार डाल देने की आज्ञा दी। अनुशासन पर धर्म भारी पड़ा। गोली चली। फाँसी हुई। लेकिन तब सिपाहियों ने धैर्य रखा और हथियार नहीं उठाए।

1829 में 'सती प्रथा पर रोक' कानून लाया गया। लॉर्ड अम्हेस्ट को आशंका थी कि यह कानून अलोकप्रिय होगा तथा इसका भी विरोध किया जाएगा। वैसा ही हुआ भी। लॉर्ड विलियम बेंटिक के पक्ष में द्वारकानाथ टैगोर तथा राजा राममोहनराय जैसे खाँटी समाज सुधारक थे तथापि विरोध को टाला नहीं जा सका। इसे ईसाइयत का हिन्दुओं पर हमला प्रचारित किया गया।

ऐसा ही एक मामला सरदार बहादुर हिदायत अली का दरपेश आया। अफगान युद्ध के दौरान काबुल में हिन्दू (सिपाही) अपना पूजन अर्चन नहीं कर सकेंगे। वहाँ खाना मुस्लिमों से खरीदना होगा। उनके संपर्क संचार भी नहीं रह सकेंगे। अतएव उन्हें दूर देश नहीं भेजा जाए। सूबेदार हिदायत अली का अंग्रेजों से चला आ रहा तीन पीढ़ियों का रिश्ता इस तरह खटायें में पड़ गया।

सीताराम सेना में सूबेदार था। चाचा जमादार व बेटा सिपाही। सीताराम को 48 वर्ष के सेवाकाल के पश्चात् 65 वर्ष की उम्र में सूबेदार पद की पदोन्नति नसीब हुई थी। उसके सिपाही बेटे ने विद्रोह में बढचढ कर भाग लिया था जिसे अपने किए की सजा भुगतनी पड़ी। सीताराम को यद्यपि शूटिंग स्कवॉड पर लगा दिया गया था किन्तु उसकी लंबी सेवाओं को देखते हुए माफी भी दे दी गई थी।

सिन्धु पार जाने से भी सिपाही प्रायः डरते थे, क्योंकि सिन्धु हिन्दुस्तान से बाहर था। ऐसा करने पर उन्हें जाति बाहर कर दिए जाने का डर सताता रहता था। दूसरा डर यह भी था कि परदेस में मरे तो मिट्टी की दुर्दशा होगी। दाह होगा नहीं और दफन मंजूर नहीं। न गंगा मिलेगी न काशी। सीताराम के साथ भी कुछ ऐसा ही सलूक हुआ था। उसे बिरादरी बाहर कर दिया गया। कोई उसे छूता न था। कोई बोलता न था। उसके भाई ने तो उसे मृत मान लिया था। पिता ने वापसी के लिए शर्त रखी कि सेना छोड़ दो। घर आ जाओ। किन्तु सीताराम अपनी पत्नी और बच्चों की खातिर वैसा कर नहीं सकता था। सो जिंदगी ईसाइयों के साथ गुजारना पड़ी। वे हँसकर बोलते थे व कोई परहेज तो नहीं ही करते थे!

1939 में यह साफ देखने में आया कि कंपनी सरकार अपने धर्म के अलावा किसी और को तवज्जो नहीं देती थी। ब्रिटेन में जनमत का दबाव महसूस करते हुए

कंपनी ने भारत में हिन्दू-मुस्लिम दोनों ही देवस्थानों के प्रबंधन को छोड़ने का निर्णय लिया। अन्यथा पहले मशहूर जगन्नाथपुरी मंदिर की देखभाल वे ही किया करते थे। स्कूल, अस्पताल, जेल, कोर्ट-कचहरी, मार्केट...सभी जगह मिशनरियों की गतिविधियाँ तेजी से बढ़ीं। सर सैयद अहमद ने तो यहाँ तक कह डाला कि...‘शासन ने ही मिशनरियों को नियुक्त किया है और वह ही इनका खर्च भी अपने ही कोष से उठा रही है। परिणामतः मिशनरियों की सेवा-भावना, शिक्षण अभियान, धर्म प्रचार तथा धर्म परिवर्तन...सभी को हिकारत की भावना से देखा जाने लगा था।

1855 में कर्नल कॉलिन मैकंजी द्वारा मोहरम को लेकर निकाले गये एक प्रतिबंधात्मक आदेश—‘जुलूस नहीं, शोर नहीं, संगीत नहीं’ को लेकर भी वैसी ही एक गलतफहमी बनी कि सरकार अन्य धर्मों व मान्यताओं के प्रति सहिष्णु नहीं है। हालाँकि गलती समझ में आते ही आदेश वापस ले लिया गया था किन्तु तब तक फितरती अपना काम कर चुके थे। फितरत फैलाई जा चुकी थी। जुलूस का रुख अंग्रेज बहादुरों के बंगलों की ओर हो गया था। जो कर्नल मैकंजी के गुस्से का कारण बना और दंगा भड़क उठा।

1855 में ही रेलों में सफर आलोचना का मुद्दा बना। उच्चकुल ब्राह्मणों को यह किसी भी तरह स्वीकार नहीं था कि शूद्र उनके बराबर बैठकर उनके साथ ही सफर करें। हालाँकि एडमंड का तर्क इसके पीछे सकारात्मक था कि लोगों में एकता की भावना बने और वे मतभेद भुलाकर करीब आएँ। पर चीजें ठीक वैसी नहीं थीं जैसा वे सोच रहे थे।

1856, डलहौजी के जाने और लॉर्ड कैनिंग के आने के साथ ही यह प्रचार जोर पकड़ गया कि उन्हें हिन्दू-मुसलमानों को ईसाई बनाने के लिए भारत भेजा गया है। जाते-जाते डलहौजी ‘विधवा विवाह’ कानून का मसौदा तय कर गए थे। जिसे लॉर्ड कैनिंग के समय में अमल में लाया गया। ईश्वरचंद्र विद्यासागर इस कानून के समर्थन में आगे आए। कुछ ही विधवाओं ने इस कानून का फायदा उठाया जबकि अधिकांश ने इस कानून को अपने धार्मिक मामलों में क्रिश्चियानिटी का हस्तक्षेप माना।

पहल ब्रिटिशर्स ही करते रहे। करार करना और फिर उससे मुकरना, भारतीयों की भावनाओं से खेलना, देशी सैनिकों और सुविधाओं का ध्यान नहीं रखना, ठीक उनके मुकाबले यूरोपियन सैनिकों को सर पर बिठाना व तवज्जो करना भी विद्रोह तथा आम असंतोष का कारण बने थे।

देशी सिपाहियों में जनरल पोलक का ‘स्पेशियल बट्टा’ भी हीन भावना फैलाने का कारण बना। बरतानी अधिकारी भारतीय औरतों के भी शौकीन रहे थे। जबलपुर इन्स्टांस, सिंध फतह (1842, 43 व 44) भी कारण बने थे। अंग्रेजों द्वारा निष्ठा पर

सदेह तथा भेदभाव ने भी असंतोष को हवा दी। कार्यपालित पदों में डिप्टी कलेक्टर तथा न्यायिक पदों में सदर अमीन का पद सदैव भारतीयों को लुभाता रहा।

लखनऊ के वली विरजिस कदर के अनुसार सभी हिंदुओं और मुसलमानों को चार चीजें बहुत प्रिय रही हैं—धर्म, आदर, जिंदगी और सम्पत्ति। जिनका अंग्रेजी राज में भरपूर हनन हुआ। न्यायालय धनिकों का पक्ष लेने लगे थे। इसे न्यायाधीश रैकीज ने भी अंडरलाइन किया था—‘हमारी सिविल प्रोसीजर की कार्य प्रणाली ठीक नहीं थी’।

भूमि बिक्री का कानून सर्वाधिक अलोकप्रिय हुआ। कंपनी कानून में जिम्मेदार अथवा संबंधित व्यक्ति की भूमि बेचने का प्रावधान किया गया। भूमि का विकना व्यक्ति को उसके सामाजिक स्तर से च्युत करने वाला साबित हुआ। कानून शायद उतने बुरे नहीं थे जितना उनको क्रियान्वयन करने वाले भ्रष्ट थे। इस कानून से केवल साहूकार ही लाभान्वित होते रहे। मजिस्ट्रेट रॉबर्टसन भी इस कानून को लेकर प्रचलित राय से इत्तेफाक रखते थे कि—आम आदमी हमसे घृणा करने लगा था। भू-स्वामी, किसान और साहू प्रशासन के खिलाफ एकजुट होने लगे। गाँव के चौकीदार व पासी लोगों ने भी अपनी आजीविका चले जाने के विरुद्ध आवाज उठाई। उनकी जगह अंग्रेजों ने बरकुंडे नियुक्त कर दिये थे। सीतापुर के कमिश्नर जी. जे. क्रिश्चियन ने भी इस ओर इशारा किया था।

1837 के महादुर्भिक्ष के दौरान कई ईसाई संस्थाओं द्वारा अकाल पीड़ितों की सहायता की गई। खाना, स्थान व शरण किन्तु बाद में उनका धर्म परिवर्तन भी किया। सदेह यह गया कि कंपनी सरकार गरीबी व विपन्नता को बनाए रखना चाहती है ताकि धर्म परिवर्तन में उसे भुनाया जा सके। मुस्लिम विचारक सर सैयद अहमद की ऐसी धारणा हो चली थी। यह प्रतिक्रिया भी सामने आई कि अंग्रेजों के सारे कानून उन्हें तथा उनके धर्म को मिटाने के लिए हैं। ऐसा आजमगढ़ विद्रोह के दौरान भी देखने को मिला।

सिखों के साथ कंपनी राज के बड़े मधुर संबंध थे। पंजाब शुरू से ही सरसब्ज व समृद्ध इलाका रहा है। भू-राजस्व की दरें वहाँ अपेक्षा कम ही रही थीं। जॉन लॉरेंस का व्यवहार तथा कोर्ट कचहरियों का रुख सिखों के प्रति बड़ा ही संतोषप्रद रहा था। पत्रकार खुशवंत सिंह ने भी ‘सिखों का इतिहास’ पुस्तक में इस ओर विस्तार से रोशनी डाली है। महाराजा रणजीतसिंह जी के लड़के राजा दिलीपसिंह ने तो विधिवत ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। वे इंग्लिश जेंटलमैन बन चुके थे। शायद इसलिए भी कंपनी का रुख सिखों के प्रति विनम्रता का रहा होगा?

□□

चर्बी युक्त कारतूस तो महज़ बहाना थे!

10 मई 1857 को जब मेरठ में विद्रोह हुआ तब पंजाब में 60 हजार सिपाही थे। 10 हजार ब्रिटिश व 50 हजार हिन्दुस्तानी किन्तु वे सब विद्रोह से बेखबर/अप्रभावित ही रहे। वास्तविकता तो यह थी कि पंजाबी सिपाहियों के कारण ही ब्रिटिश अधिक सुरक्षित रहे। जॉन लॉरेंस की अनुपस्थिति में वहाँ का काम संभाल रहे मॉण्टगोमरी दिल्ली तथा मेरठ की घटनाओं पर बराबर नज़र जमाए हुए थे। अपरिचित तो कतई नहीं थे। उन्होंने अपने उच्चाधिकारियों तथा समाज के श्रेष्ठ जनों से आवश्यक विचार-विमर्श भी किया था। तब हुआ था कि मियामीर में जितने भी सिपाही हैं उनसे हथियार रखवा लिए जाएँ। 13 मई 1857 को रेजीमेंट से हथियार खूँटी पर टँगा लिए गए। उसी दिन पेशावर में सैन्य परिपद की बैठक हुई। जनरल रीड ने पंजाब का नेतृत्व संभाला। एक चलित सैन्य दस्ते का गठन भी किया गया ताकि आवश्यकता पड़ने पर विद्रोह दबाने के लिए उसे कहीं भी भेजा जा सके। जालंधर विद्रोह के समय उसने अपनी सार्थक उपयोगिता सिद्ध की थी।

विद्रोह के प्रारंभिक दो महीनों के लिए जॉन लीवर रावलपिंडी में थे। पंजाब की गतिविधियों पर मॉण्टगोमरी निगाह रख रहे थे। वे जॉन लीवर के सम्पर्क में थे। जॉन लीवर इस विचार के थे कि पहले दिल्ली को नियंत्रण में लिया जाए। पहाड़ों से सैन्य टुकड़ियाँ अंबाला पहुँचीं। कमांडर इन चीफ से उन्होंने कहा अंबाला को फ्री करो ताकि उन्हें कार्रवाई के लिए छोड़ा जा सके और यह भी कि जिन सैन्य दस्तों की निष्ठा सदेहास्पद है उन्हें तुरन्त निःशस्त्र करें। नई रेजीमेंट बनाओ और यथासंभव सिपाहियों को दिल्ली को मुक्त कराने हेतु भेजो। इन सारी योजनाओं का क्रियान्वयन हो पाता उससे पहले ही फिरोजपुर से विद्रोह की खबर आई। अधिकारी फोरवार्ड की सूझबूझ से सारे मैगजीन सुरक्षित रखा लिए गए। विद्रोह को सफलतापूर्वक नाकाम कर दिया गया। फिल्लौर, गोविन्दगढ़, कांगड़ा, अटक और मुलतान के किलों का

प्रभार ले लिया गया। शिमला कंटोनमेंट में भी स्थिति बिगड़ी। उधर गोरखा रेजीमेंट ने भी अपने अधिकारियों का आदेश मानने से इंकार कर दिया। कसौली का कोषालय लूट लिया गया किन्तु प्रशासन ने बुद्धिमत्ता का परिणय दिया। विद्रोहियों की माँगें मान ली गईं और वे बैरक्स में लौट आए।

दिल्ली व मेरठ की खबरें सुन-सुन कर अंबाला, पानीपत व थानेसर में भी हालात बेकाबू हो गए। रंगहार तथा गूजर आदिवासियों ने दिन के उजाले में लूटपाट को अंजाम दिया। अपहरण भी किया। हरियाणा के कुछ जमींदारों, झज्जर व ददुरी के नवाबों तथा वल्लभगढ़ के राजा ने खुद को विद्रोहियों के साथ मिला लिया था। लोहारू के नवाब तटस्थ हो गए थे। पूर्व पंजाब में करनाल व मेलारकोटला के नवाबों ने अंग्रेजों का साथ दिया। जबकि मुस्लिम किसानों की सहानुभूति विद्रोहियों के साथ थी। नौशेरा और मर्दान में भी विद्रोह फूटा जबकि ट्रांस सतलुज भी ब्रिटिशर्स के हक में रहा।

जॉन लॉरेन्स ने पंजाब को सील कर देने के आदेश भी दिए। जालंधर, झेलम, जम्मू, सियालकोट कुछ भी अछूते नहीं रहे। मुठभेड़ हुई। 26वीं इन्फेन्ट्री रेजीमेंट के सिपाहियों ने भी अपने अधिकारियों पर हमला बोला तथापि निष्कर्ष यही निकाला गया कि सिख व पंजाब पर विद्रोह का व्यापक असर नहीं हुआ। डलहौजी द्वारा राज्यों को सूचीबद्ध करने की नीति को ही, देश को राजनीतिक एकता में बाँधने का श्रेय जाता है। यह कार्य एक तरह से राष्ट्रीय बंधुत्व की नींव साबित हुआ। हालाँकि डलहौजी का ऐसा अभीष्ट कभी भी नहीं रहा था। झाँसी की रानी ने अवश्य ही अपना विरोध दर्ज कराया था। सतारा मामले की वकालत करने रंगों बापूजी लंदन गए थे। संभलपुर परिवार ने भी हथियार उठा लिए थे। तंजोर व कर्नाटक की रानियाँ कंपनी के प्रति निष्ठावान थीं सो शांत रहीं।

1857 का विद्रोह यद्यपि कुचल दिया गया तथापि कंपनी सरकार को उसने जबर्दस्त आघात पहुँचाया। न केवल बरतानी हुकूमत को वरन् भारत में उस समय छाये हुए सामंती संबंधों को भी गहरी चोट पहुँची। ब्रिटिश सरकार को भूमि का लगान घटाने पर विवश होना पड़ा। विद्रोह की चपेट में आए इलाकों में जमींदारों की स्वेच्छाचरिता पर लगाम लगानी पड़ी जिससे कर उगाहने वाले कारिन्दों, जमींदारों और साहूकारों द्वारा किसानों के उत्पीड़न को तो खत्म नहीं किया जा सका लेकिन भारत के गाँवों में प्रचलित मध्ययुगीन संबंधों की जड़ों पर कुठाराघात करने में मदद अवश्य मिली। कथित विफलता आगे चलकर सफलता की प्रेरणा बनी। जिस साम्राज्य में सूर्यास्त नहीं होता था वहाँ स्वाधीनता का सूर्योदय भी उन्हें देखना पड़ा। इन्हीं सारे कार्य कारण संबंधों का विश्लेषण हमने यहाँ करने की कोशिश की है।

सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में उपनिवेशों पर अधिकार जमा लेने के बाद यूरोप के पूँजीपतियों की ताकत तेजी से बढ़ने लगी। इंग्लैंड का, सत्रहवीं शताब्दी का संसद और राज्य के बीच का संघर्ष वास्तव में विकसित हो रहे पूँजीवाद तथा पतनोन्मुखी सामन्तवाद के बीच का संघर्ष था।

1642 से 1688 अर्थात् पूरे छियालीस वर्ष तक चले इस निरंतर संघर्ष के बाद पूँजीपति वर्ग ने अन्य वर्गों के सक्रिय सहयोग से सामंतों को जड़ से उखाड़ फेंका। यह विश्व की पहली पूँजीवादी क्रान्ति थी। 1789 में फ्रांस में क्रांति हुई। वहाँ भी परिणाम वैसे ही आए। वहाँ भी क्रांति के बाद पूँजीवादी राज्य की ही स्थापना हुई। यूरोप में 'राष्ट्रवाद' एक प्रबल शक्ति बन गया। जबकि "सोलहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक के काल में आधुनिक राज्य के उदय के पहले राष्ट्रवाद की बात सोची भी नहीं जा सकती थी।"⁶

फ्रांस की क्रांति (1789) ने उन्नीसवीं सदी के जनतांत्रिक और राष्ट्रीय आंदोलनों को प्रभावित किया। 1820-21 में इटली में, 1820-23 में यूनान ने अपनी स्वाधीनता के लिए तुर्की से सफल संग्राम किया, जिसमें अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि बायरन शहीद हुए। यूनानियों के वीरतापूर्वक कारनामों से अंग्रेजी कवि शैली और रूसी कवि पुश्किन को भी बड़ी प्रेरणा मिली।

इटली को एक करने के मेजिनी और गैरी बोल्डी के प्रयासों से भारत में राजा राममोहन राय को खुशी मिल रही थी। 'यंग-इटली' की तर्ज पर 'यंग-बंगाल' और 'यंग-बॉम्बे' संगठन बन रहे थे। स्वामी विवेकानन्द रोम्यारोला पर जादू कर सकते थे तो भारत में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध चले 'मुक्ति संघर्ष' 'मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन' का बरबस ही ध्यान आकर्षण भी करते रहे हैं। भारत एक उभरती हुई 'शक्ति' था।

सामंती राज्य व्यवस्था का स्थान पूँजीवादी राज्य व्यवस्था ग्रहण कर चुकी थी। नवोदित पूँजीपति वर्ग के सामने अब मुख्य समस्या बाजार की आन पड़ी थी। इसका लक्ष्य अपना माल बेचने के साथ ही स्पर्धा में उतरे पूँजीपतियों के साथ विजय प्राप्त करना भी होता था।

ब्रिटेन के पूँजीपतियों ने सत्रहवीं शताब्दी के अंत व अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में 'स्वदेशी' का अभियान छेड़ा जिसका मुख्य उद्देश्य भारतीय कपड़े और रेशम से ब्रिटेन के कपड़ा और रेशम उद्योग की रक्षा करना था। 1700 और 1720 में दो कानून पास किए गए जिनके द्वारा ब्रिटेन में भारतीय और रेशमी कपड़ों के इस्तेमाल पर रोक लगा दी गई। 'इस्तेमाल' दण्डनीय अपराध करार दे दिया गया। इतना ही नहीं—भारत से कपड़े का ब्रिटेन में आयात बंद व प्रतिबंधित कर दिया गया किन्तु ब्रिटेन से भारत को कपड़े का निर्यात खोल दिया गया। कम चुंगी बल्कि कर मुक्त

बिक्री वह भी अपेक्षया कम दरों पर! इस विडंबना को आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी के पुरोधा साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कुछ इस तरह लिखा—

मारकीन मखमल बिना, चलत कछू नहिं काम।

परदेसी जुलहान के, मानहुँ भए गुलाम।।

वस्त्र काँच कागज कलम, चित्र खिलौने आदि।

आवत सब परदेस सों नितहिं जहाजन लादि।।

इत की रुई सींग अरु, चरमहिं नित लै जाय।

ताहि स्वच्छ करि वस्तु बहू, भेजत इतहिं बनाय।।

तिनही को हम पाई कै, साजत निज आमोद।

तिन बिन छिन तृन सकल सुख, स्वाद विनोद प्रमोद।।

कहने को तो यह एक कवित्त है—साहित्यिक कृति। किन्तु क्या व्यापार, क्या अर्थ नीति, क्या राजनीति, इतिहास और दर्शन क्या कुछ नहीं है? संभवतः यही प्रगतिशीलता, इतिहास दृष्टि और समसामयिकता है। बरतानी कानूनों के बावजूद ईस्ट इण्डिया कंपनी ने क्या व्यापार करना बन्द कर दिया था? भारत से तब भी वह इन सब वस्तुओं को ले जा रही थी और व्यापार कर रही थी। इंग्लैंड के बाजारों में न सही अन्य बाजारों में तो व्यापार खुला था। कंपनी वहाँ पहुँच रही थी। यूरोपीय व्यापारियों के लिए भारत के साथ व्यापार हर दृष्टि से आकर्षक व लुभावना रहा। पुर्तगीज-डच-फ्रांसीसी-अंग्रेज यहाँ व्यापार करने की गरज से अपनी-अपनी कंपनी को जरिया बनाकर पहुँचते रहे। जिन्हें अपनी-अपनी सरकारों का प्रबल समर्थन रहता आया। भारत पर व्यापारिक आधिपत्य जमा लेने के उद्देश्य से इन यूरोपीय दलों व गुटों में सशस्त्र झड़पें भी होती रहीं। स्पर्धा तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होती गई। ब्रिटिश पूँजीपतियों की 'ईस्ट इण्डिया कंपनी' अंततः सफल रही। भारत पर उसका अधिकार मजबूत होता गया और भारतीय समाज व्यवस्था का तेजी से विघटन होने लगा।

अंग्रेजों तथा अन्य यूरोपीय व्यापारिक समुदायों के भारत आने से पहले हमारे गाँवों और शहरों में उद्योगों का विकास होने लगा था। किन्तु इनका स्वरूप घरेलू था और ये मुख्यतः कृषि से जुड़े थे। इनसे स्थानीय आबादी, तत्कालीन ग्राम-समाज आदि की जरूरतें पूरी हो जाती थीं। सारतः भारत में व्यापारी पूँजीपति वर्ग तो पैदा हो चुका था किन्तु औद्योगिक पूँजीपति वर्ग तब तक भी पैदा नहीं हुआ था।

□□

देश उजड़ा, कंपनी बढ़ी...

कंपनी निरंतर ताकतवर, समृद्ध व आक्रामक होती गई। विजय अभियान चल पड़ा। मद्रास, कलकत्ता—जो आगे चलकर कंपनी की प्रमुख गतिविधियों के केन्द्र बने.. अधिकारों और शक्ति में हो रहे निरन्तर इजाफे ने कंपनी बहादुरों को मदान्ध बना दिया। वृद्धि, वृद्धि और वृद्धि ने उन्हें अत्याचारी व निरंकुश बना दिया। 1717 में कंपनी की जो आय 2,78,600 पौण्ड्स थी वह 1729 में 3,64,000 पौण्ड्स हो गई। फिर तो उन्होंने पलट कर नहीं देखा।

‘कंपनी’ बहादुर के राज्य में भारत गंगा होता गया। बंगाल में तो लूट मची हुई थी। बुनकर, कंपनी के व्यापार केन्द्रों के निकट बसने लगे। कलकत्ता, ढाका, कासिमबाजार व बंगाल के अन्य स्थानों पर कारीगरों, बुनकरों के ढेर लग गए। अकेले कलकत्ता में कंपनी के पास तब 8,000 बुनकर जमा थे। कच्चा माल व अन्य सामग्री उन्हें दी जाती। वे अपने श्रम और कौशल का उपयोग कर उम्दा माल बनाकर कंपनी को दे देते। कंपनी उस माल को यूरोप के बाजार में बेचकर अकल्पनीय मुनाफा कमाती गई। वरतानी व्यापार का तेजी से पैर पसारता यह मायाजाल जब तक बंगाल के नवाब के समझ में आता और वे कंपनी के विरुद्ध कोई कदम उठाते तब तक बहुत देर हो चुकी थी।

देश का धन इस तरह ब्रिटेन पहुँचने लगा। वहाँ बड़े पैमाने पर मशीनों से उत्पादन होने लगा था। तैयार माल भारत आने लगा जो स्थानीय माल की तुलना में सस्ता होता था। देशी वस्त्रोद्योग ठप्प होने लगा। कारीगर बेकार होने लगे। तिस पर पड़ी अकाल की मार! भारतीय अर्थव्यवस्था को कंपनी ने बलपूर्वक तबाह-ओ-बर्बाद कर दिया। जिस सामंती व्यवस्था को खुद ब्रिटेन में उखाड़ फेंक दिया गया था उसे यहाँ फिर से रोपा गया। जनता, राजे-नवाब, सामंत, जमींदार सभी में किसी न किसी बात को लेकर नाराजगी बनी ही रहती आई थी। कंपनी राज की मगरूर

नीतियों ने असंतोष की इस ज्वाला को निरंतर भड़काया। ऐसे में यदि विरोध का झंडा कंपनी के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ तो क्या वह महज गदर, बलवा या सिपाही विद्रोह मात्र था? ऐसा सोचना भी मुझे तो एक फ्रॉड लगता है। यह स्वतंत्रता की उस लहर को कम करके आँकना है। वह न होता तो आश्चर्य होता!

‘फ्रांसीसी क्रान्ति का इतिहास’ पुस्तक में कार्लायल लिखते हैं—“फ्रांसीसी क्रांति की मूल शक्ति थी : भोजन, वस्त्र की कमी और तथाकथित कल्याणकारी शोषण के बोझ तले पिसती 2.5 करोड़ जनता के दिलों की कराह, न कि शहरी सामंत वर्ग या धनी दुकानदारों और दार्शनिक वकीलों का घायल अहं या अंतर्विरोध ग्रस्त दर्शन। भविष्य में भी सभी देशों में, सभी क्रान्तियों की मूल प्रेरक शक्ति यही होगी।”

सामंत तो कितने व किस हद तक साथ में थे यह हम आगे चलकर अपने विश्लेषण में देखेंगे। 1857 के मुक्ति संग्राम/जंग-ए-आजादी की शक्ति थे—सिपाही, दुर्ग रक्षक, किसान, ग्रामीणजन, कारीगर, बुनकर, खेतीहर मजदूर, आदिवासी अन्य जातियाँ, नौजवान आदि। शक्ति के उस ‘असंगठित व समर्थ नेतृत्व से विहीन’ विस्फोट को केवल बलवा या गदर कहकर टाल देना उस ‘गंभीर राजनीति’ का अपमान है। आगे चलकर लाखों करोड़ों लोगों की, उनके सपनों की महाविजय हुई थी जिनका ताना-बाना 1857 या उससे भी पहले से बुना जाने लगा था।

अंग्रेजों और भारतवासियों के बीच सशस्त्र संग्राम होते ही आए हैं, यहाँ हम कुछ मिसालें इतिहास से ले रहे हैं।

सामंत सरदारों के मुख्य प्रयास

- 1794 में विजयनगरम् के विजयराज की बगावत
 - 1799-1805 में केरल के पायरस्सी राजा की बगावत
 - 1799 अवध के नवाब वजीर अली का विद्रोह
 - 1800-34 गंजाम में जमींदारों का संघर्ष
 - 1801-05 दक्षिण के पाड्यकारों, (किलेदारों) का संघर्ष
 - 1808-09 वेलू थंपी के नेतृत्व में त्रावणकोर का स्वाधीनता संग्राम
 - 1824 रानी येनम्मा के नेतृत्व में किन्नूर (मैसूर) विद्रोह
 - 1833 कुर्ग का मोर्चा
 - 1842 में बुंदेलखंड में मधुकरशाह बुंदेला का विद्रोह और भूमिया आन्दोलन
 - 1846-47 में आंध्र के नरसिंह रेड्डी का विद्रोह।
- इन सभी विद्रोहों में सामंतों की मुख्य शक्ति थे किसान।

देखिए कुछ प्रमुख किसान विद्रोह

- 1778-81 गोरखपुर के किसानों का विद्रोह
- 1783 रंगुपर (अब बांग्लादेश में) का विद्रोह
- 1792 सुबादिया (बांग्लादेश के बाकरगंज जिले में) विद्रोह
- 1830-31 में ही मैसूर की रैयत का विद्रोह
- 1838-47 फरीदपुर (अब बांग्लादेश में) जिले का फराजी विद्रोह। तथा
- 1852 में महाराष्ट्र का सर्वेक्षण हंगामा आदि।

किसानों में एक वर्ग ऐसा भी था तो राजा-नवाबों के यहाँ सिपाहियों का काम करता था किन्तु फुर्सत के समय खेती किसानी भी करता था। अंग्रेजों ने जब इन राजाओं के राज्यों पर कब्जा कर लिया, उनकी सेनाएँ भंग कर दीं, सिपाही व सैनिकों की रोजी, उनके हक जब छीने जाने लगे तब भी अंग्रेज राज को उखाड़ फेंकने की जो (असफल) कोशिशें हुईं उनमें से कुछ 'सिपाही विद्रोह'—

- 1817 कटक के पाइकों का विद्रोह
- 1824 से 50 पश्चिम घाट के कोलियों का विद्रोह
- 1826-29 पूना के रमोलियों की बगावत आदि।

आदिवासी जातियों की बगावत

- 1718-99 बांकुड़ा और मेदिनीपुर जिलों का चोआड़ विद्रोह
- 1818-31 का भील विद्रोह
- 1818-20 सिंह भूमि के आदिवासियों का विद्रोह
- 1824-33, 1846-66 गारो विद्रोह
- 1829-33 खसिया विद्रोह
- 1831-32 छोटा नागपुर का कोल विद्रोह
- 1833 संभलपुर का गौंड विद्रोह
- 1846 उड़ीसा का खोंड विद्रोह
- 1848 से 1900 तक आसाम के अबोरों, लुशाइयों तथा नागाओं के विद्रोह होते रहे।
- 1855-56 का विश्व प्रसिद्ध संथाल विद्रोह

तथा ऐसे और भी कई मामले गिनाए जा सकते हैं जिनका कारण कंपनी राज की बर्बरता और जुल्म रहे। जब सहन करने की सीमाएँ चूक जातीं तो विद्रोह का लावा फूट पड़ता। विद्रोह यद्यपि सफल नहीं हुए। उन्हें दबा दिया गया किन्तु मुक्ति की तड़प व छटपटाहट को दबा कर आखिर कब तक रखा जा सकता था?

36 / 1857 : इतिहास और साहित्य

फलतः 1857 का महाविद्रोह हुआ। उसके होने के महत्व को इस पृष्ठभूमि के बगैर नहीं समझा जा सकता हालांकि उसे तो होना ही था।

विद्रोह की देशज शृंखला को जाने समझे बगैर तो 1857 गदर या बलवा ही नजर आएगा। स्वयं मार्क्स व एंगेल्स ने ऐसे अर्द्ध सरकारी दावों का पूरी तरह खंडन किया जिनके अनुसार 1857 की घटनाएँ बंगाली सेना की बगावत के अलावा कुछ नहीं थीं। उन्होंने भारत में हुए इस विद्रोह को विदेशी कब्जावरों के विरुद्ध 'जन विप्लव' की संज्ञा दी थी। मार्क्स ने लिखा था—समय बीतने पर ऐसे दूसरे भी बहुत से तथ्य प्रकाश में आयेंगे, जो स्वयं जॉन बुल को भी विश्वास दिला सकेंगे कि जिस आन्दोलन को वह फौजी बगावत (सैनिक विद्रोह) समझता है वह वास्तव में 'राष्ट्रीय' विद्रोह था। ब्रिटिश आधिपत्य के विरुद्ध महान एशियायी राष्ट्रों के सर्वव्यापी असंतोष की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति।" लेनिन ने इसे 'सिपाहियों' की बगावत ही नहीं अपितु 'भारत की जनता का इंग्लैंड के विरुद्ध विद्रोह' करार दिया था। 1757 में हुए प्लासी युद्ध के बाद मुखर, बर्बर, आततायी अंग्रेजों के इस कंपनी राज को 1857 के इस महाविद्रोह ने हिलाकर रख दिया। नवम्बर 1858 को कंपनी राज का स्थान महारानी विक्टोरिया के ताज ने ले लिया। उद्घोषणा जारी की जा चुकी थी।

इतिहास के इस घटनाक्रम को सिलसिलेवार जान, समझ लेने के उपरान्त भी यदि कोई 1857 को मात्र 'सिपाही-विद्रोह' कहने पर ही अड़ा रहे और चर्बी युक्त कारतूस को ही उसके घटित होने का कारण मानता अथवा बताता रहे तो उसके लिए प्रार्थना ही की जा सकती है कि, 'हे ईश्वर इन्हें क्षमा कर ये खुद नहीं जानते कि ये क्या कहे जा रहे हैं।'

यह सही है कि उस मुक्ति संग्राम के पीछे बड़ा कारण शायद यही था कि सौ साल पूरे कर रही कंपनी बहादुर की सत्ता के जुए से भारत की जनता को छुटकारा मिल जाए। किन्तु क्या यह 'आजादी' की कामना के किसी भी अन्य कारण से कमतर था? हालांकि संगठित व समर्थ नेतृत्व का अभाव, उसका भी छोटे-छोटे व सीमित स्वार्थों में बँटा हुआ होना कम त्रासद नहीं था शायद इसीलिए पर्याप्त शूरवीरता और बुद्धि कौशल के बावजूद यह 'महाविद्रोह' सफल हो गया। सब कुछ बाजार में बदल गया।

भारत में अंग्रेजों के आने से पहले दस्तकारी का उच्चकोटि का कलात्मक काम हुआ करता था। प्राचीन काल में भारतीय कपड़ों, दीवारदरी, मोजेक, तामचीनी हीरे-जवाहरात का काम व व्यापार जगत प्रसिद्ध रहा है जो औद्योगिक क्रांति तक अपने यश को बढ़ाता ही रहा। भारत पर काबिज ब्रिटेन के नए पूँजीपतियों ने भाप के इंजन और मुक्त व्यापार के जरिए भारत के चरखे व करघे को नष्ट कर दिया। उनके साथ ही भारत की ग्राम समाज व्यवस्था भी भरभरा कर ढह गई।

कंपनी फलती फूलती गई। भारत खोखला होता गया। कारीगर, बुनकर, दस्तगीर, शिल्पी, बर्बाद होते गए।

1853 एक महत्वपूर्ण वर्ष रहा इतिहास की दृष्टि से। लॉर्ड डलहौजी जो भारतीय रियासतों को चेरी की तरह गिटक जाने के लिए कुख्यात रहा था ने 1853 में ही भारत में रेल का निर्माण शुरू कराया। शुरुआत तो अंग्रेजों ने अपने हित में की थी किन्तु आगे चलकर भारत में रेल का प्रसार भारतवासियों को एकता के सूत्र में बाँधने और भारत को राष्ट्र का रूप देने का बीज मंत्र साबित हुआ। राष्ट्रीयता की भावना फैलाने में रेलें मददगार सिद्ध हुईं।

रेल व्यवस्था भारत में आधुनिक उद्योग की जननी मानी जाती है। कपड़ा मिलों, कोयला खदानों और चटकलों का विकास आरंभ हुआ। राष्ट्रीयता व राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार करने में रेलों की अहम् भूमिका रही। हमें भूलना नहीं चाहिए कि 'राष्ट्र' का जन्म सामंतवाद की समाप्ति और पूँजीवाद के आगमन के साथ ही हुआ।

1853 में ही ब्रिटिश संसद में ईस्ट इण्डिया कंपनी का चार्टर नवीनीकरण हेतु शायद अंतिम बार पेश किया गया था। मार्क्स ने तब 'न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' में 'भारत में अंग्रेजी राज' एक लेख लिखा था। आठ लेखों वाली शृंखला के इस लेख में उन्होंने भारत की ग्राम समुदाय व्यवस्था (विलेज कम्युनिटी) का सविस्तार वर्णन किया था। 1848 से 1856 के आठ साल भारत के गवर्नर जनरल रहे लॉर्ड डलहौजी का कार्यकाल जहाँ देशी रियासतों, राजे-रजवाड़ों-नवाबों के लिए दमनकारी रहा वहीं भारत में औद्योगिक प्रसार और रेल परिवहन आदि की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण रहा। रेलें हमारी तरक्की का मुख्य आधार बनीं। शायद इसीलिए कहा जाता है कि 'आधुनिक भारत ब्रिटिश शासन का ही शिशु है।' मगर इसकी भारी कीमत भी चुकानी पड़ी देश को।

1818 से 1836 के बीच ब्रिटेन से भारत को भेजे जाने वाले सूत की मात्रा में 5,200 गुना वृद्धि हुई। अंग्रेजी मलमल का जो निर्यात 1824 में अधिकतम 10,00,000 गज रहा होगा वह 1837 में बढ़कर 6,40,00,000 गज से भी अधिक हो गया। हिन्दुस्तान के वे नगर जो कपड़ा उद्योग के केन्द्र थे तबाह-ओ-बर्बाद हो गए। ब्रिटिश भाप और विज्ञान ने हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक कृषि उत्पादन तथा वस्त्र उद्योग के मेलजोल/समागम को जड़ से उखाड़ फेंका।

ब्रिटेन से निर्यात बढ़ा। भारत का निर्यात घटा। 1858 में ब्रिटेन से 50 लाख पौंड का कपड़ा भारत आया वह 1859 में ही 80 लाख पौंड तक पहुँच गया। भारत में उत्पादन पर चुंगी बढ़ा दी। ब्रिटेन का मशीनी कपड़ा भारत के हस्त व करघा निर्मित कपड़े से उच्च गुणवत्ता के बावजूद कर मुक्त होने के कारण सस्ता बिकने

38 / 1857 : इतिहास और साहित्य

लगा। आशियाने उजड़ने लगे। बस्तियाँ वीरान हो गई। कारीगर व बुनकर बेकार, बेरोजगार होते गए। तवाही व बर्बादी का मंजर चारों तरफ नजर आने लगा। बिचौलियों (गुमाश्ताओं) तथा साहूकारों को कंपनी राज में भरपूर प्रोत्साहन मिला। नवाब मुर्शीदअली खान का जोधपुरी खजांची जिसे अपने नाम 'जगत सेठ' की ख्याति के अनुसार सिक्के ढालने का अधिकार तक नवाबी में मिल गया था, ने कंपनी राज के प्रभावशील होते ही पाला बदल लिया। कंपनी ने भी उसे गले लगा लिया व बैंकिंग की शक्तियाँ प्रदान कर दीं। जगत सेठ की तो पौ बारह हो गई।

1757 से 1780 तक ब्रिटिश 380 लाख पौंड की वस्तुएँ, सिक्के आदि भारत से ले जा चुके थे। ढाका का पतन हो गया, जहाँ की मलमल की विश्व में धाक थी। शिल्पी-बुनकर-कारिगर कर्ज व गरीबी में उतरते गए। गाँवों में किराए की जमीन लेकर अपना व अपने परिजनों का पेट पालने लगे।

अंग्रेजों ने जहाँ उत्तर-भारत में जमींदारी प्रथा को बढ़ावा दिया। जमींदारों को जमीन का मालिक बनाया। वहीं दक्षिण में रयतवारी प्रथा को लागू कर किसान को जमीन का मालिक बनाया। जमीन निजी सम्पत्ति बन गई। बिकाऊ माल। यह भारत की आदर्श ग्राम-समाज व्यवस्था की मृत्यु थी।

बरतानी कंपनी राज के हुक्मरानों ने अपने व्यापारिक बुद्धि कौशल से विश्व बाजार से ही भारतीय कपड़े को शनैः शनैः गायब कर दिया। 1801 में 13,633 गांठे भारत से अमेरिका जाती थीं जो घटकर 1829 में मात्र 258 गांठें ही रह गई। 1800 तक लगभग प्रतिवर्ष 1450 गांठ कपड़ा डेनमार्क जाता था वह 20 वर्षों में सिमट कर मात्र 120 गांठ ही रह गया। यही हाल पुर्तगाल, अरब व फारस की खाड़ी के देशों को जाने वाले कपड़े का भी हुआ। भारी दुर्दशा। इसी प्रकार भारत के रेशम, लोहे, काँच, चमड़े, चीनी व नील के उद्योग भी रफ़ता-रफ़ता नष्ट कर दिये गये। जाहिर सी बात है कि यह सब एक ही दिन में तो नहीं ही हुआ होगा? बर्बादी की इस इरादतन अपनाई गई कंपनी राज की प्रक्रिया को जाने बगैर आप 1857 तक नहीं पहुँच सकते। क्योंकि वह भी अचानक ही या एक ही दिन में घटित नहीं हुआ! असंतोष के वहाँ तक पहुँच कर विस्फोट में तब्दील होने की त्रासदी को गहराई से जानने के लिए इतिहास की यह यात्रा न केवल अनिवार्य है बल्कि अपरिहार्य भी है। तब ही आप फौरी व चलताऊ निष्कर्षों से बच सकेंगे।

मध्यस्थ व्यापारियों का स्थान गुमाश्ता लेने लगे। कंपनी इन्हीं गुमाश्ताओं के जरिये बुनकरों से सीधे खरीद-फरोख्त करने लगी। गुमाश्ताओं द्वारा बुनकरों पर दबाव बढ़ाया जाने लगा। 25 से 30 प्रतिशत तक कीमतें कम करार कर सौदे होने लगे। हिंसा बढ़ी। इकोनॉमी बिगड़ी। बुनकरों व शिल्पियों पर चौकसी बिठाई जाने

लगी कि वे जब तक कंपनी और उसके ऑफिसरों की मांग का माल पूरा नहीं बना दें तब तक न तो वह अपने लिए प्रॉडक्शन कर सकेंगे, न तैयार माल को बेच सकेंगे। नतीजा 1786 का वनुकर विद्रोह हुआ। 1787-89 में ढाका व सोनार गाँव के वुनकरों ने शिकायत दर्ज कराई कि उनके साथ कंपनी के कारिन्दों ने मारपीट की। उन्हें बन्दी बनाया व धोखाधड़ी की गई। नमक बनाने वाले कर्मियों द्वारा भी कुछ इसी तरह की शिकायतें कंपनी बहादुरों के विरुद्ध सामने आईं। बंगाल सहित अन्य स्थानों पर किसानों से कर वसूली को लेकर कंपनी बहादुरों द्वारा बरती गई जुल्मों की दास्तानें भी इनसे कुछ भिन्न नहीं थीं।

1790-91 बंगाल-बिहार व उड़ीसा में भूमि पर कर, 1765 की कर दरों से दुगना बढ़ा दिया गया। यह किसानों पर कंपनी की खुल्लमखुल्ला डकैती थी। परिणामस्वरूप खेती की एक तिहाई जमीन जंगल में बदल गई। इससे परेशान किसानों ने 1783 में किसान-विद्रोह को जन्म दे दिया। गुस्ताए किसान बंगाल के रंगपुर में इकट्ठा हुए। नेता चुना। विधिवत् न्यायालय को अपील की। लेकिन जब एक नहीं सुनी गई तो 'बराबरी का हक बराबरी का दावा नहीं तो मुठभेड़ और धावा' की तर्ज पर शस्त्र उठा लिए गए। विद्रोह फैल गया। अठारहवीं सदी के अंतिम 40 वर्ष इसी तरह तूफानी रहे। जंगल के आदिवासियों, संथालों यहाँ तक कि संन्यासियों आदि ने भी विद्रोही किसानों का साथ दिया। यह अलग बात है कि कंपनी सरकार द्वारा विद्रोह बलपूर्वक दबा दिए जाते रहे।

जहाँ तक सेना में विद्रोह अथवा सिपाही विद्रोह का प्रश्न है वह भी 1857 में कोई पहली बार नहीं हुआ था। कंपनी सरकार की हिन्दुस्तानी सेना में उपनिवेशवादियों के खिलाफ युद्ध पहले भी होते रहे हैं। 1764 का बंगाल आर्मी में विद्रोह इतिहास प्रसिद्ध रहा है। इसमें छपरा (बिहार) के 16 और बैरकपुर (बंगाल) के 6 इस प्रकार कुल 22 लोगों को तोप के मुँह से बाँध कर उड़ा दिया था। 1806 का वैलोर-विद्रोह कंपनी के सिपाहियों की बगावत के रूप में इतिहास में जाना गया। 1824 में बर्मा युद्ध के समय बंगाल आर्मी में बैरकपुर में जमा 26वीं, 47वीं और 62वीं पल्टन ने युद्ध में जाने से इंकार कर दिया तो उन पर अंग्रेज तोपखाने से गोले बरसाए गए। इसमें डेढ़ सौ सिपाही शहीद हुए। दमन तब भी रुका नहीं। गरज यह कि विद्रोह होते रहे हैं तो उन्हें दबाया भी जाता रहा है।

1810-11 में गृह कर के खिलाफ बनारस की आम जनता ने हड़ताल की थी। बरेली में पुलिस टैक्स के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह हुआ था। स्वतंत्रता के लिए संग्राम भारतवासियों की परम्परा रही है। किन्तु ये सारे संग्राम प्रायः असंगठित, स्थानीय और अलग-अलग होते थे अतएव उन्हें आसानी से विफल किया जाता रहा है। 1857

40 / 1857 : इतिहास और साहित्य

का महाविद्रोह स्वतंत्रता की भावना से संचालित था। कंपनी सरकार के सौ साल पुराने जुए से जनता मुक्ति चाहती थी। असंगठित व खंड-खंड तो यह संघर्ष भी था किन्तु इसकी अवधि सर्वाधिक लंबी दो वर्ष की रही। दोनों ही पक्षों को जन-धन की भारी हानि उठानी पड़ी थी। इस संघर्ष ने कंपनी सरकार की जड़ें हिला दी थीं। 8 अप्रैल 1857 को मंगल पाण्डे की फाँसी के साथ भड़की मुक्ति संग्राम की यह आग 8 अप्रैल 1859 तक (जब तात्या टोपे को फाँसी पर चढ़ाया गया, यद्यपि हाल ही के ताजा शोध के अनुसार तात्या की फाँसी पर मतभेद भी सामने आए हैं) धधकती रही। हालाँकि अंग्रेज सरकार ने इस महाविद्रोह को दबा तो दिया किन्तु कंपनी सरकार की विदाई की कीमत चुका कर। इस विफलता को शिरोधार्य करने में मुझे कतई शर्म अथवा संकोच नहीं। इस विफलता में तात्कालिक सफलता के साथ ही भविष्य की पूर्ण सफलता की पगध्वनियाँ स्पष्ट सुनाई दे रही थीं। भारतीयों के इस लंबे बलिदान को हम बाअदब, बा मुलाहिजा सलाम करते हैं। लाल सलाम!

□□

दो पाटन के बीच

1757 के बाद अंग्रेजों ने भारत में दोहरे शासन की नींव रखी। कंपनी के बंगाली अधिकारी नागरिक मामले, कोर्ट कचहरी, कानून-व्यवस्था आदि देखने लगे, तो शेष कंपनी अमले को भू-राजस्व संग्रहण पर नियंत्रण मिल गया। व्यापारी, निर्दयी और बेरहम शासक बन गए। ग्रामीण बुनकरों, शिल्पियों, कारीगरों, सैनिकों के साथ ही आर्मेनियाई व्यापारियों ने हारे हुए मीर कासिम की हर संभव मदद की। फलतः मीर कासिम को 1763 में, हारा हुआ पटना वापस मिल गया किन्तु यह खुशी अधिक टिकाऊ नहीं रह सकी। 1764 में अंग्रेज बक्सर की लड़ाई फिर जीत गए। शाह आलम ने समर्पण कर दिया और मीर कासिम दिल्ली चला गया। तब शायद गंगा घाटी में अंग्रेजों के समक्ष कोई बड़ी चुनौती शेष नहीं रह गई थी। भू-राजस्व से भारतीय माल खरीदा जाने लगा। किसानों का भू-राजस्व की वसूली हेतु हर संभव दमन किया जाने लगा।

कंपनी हमें लूट रही थी और उसी लूट को अपने लिए इन्वेस्ट भी कर रही थी। बंगाल से मिलने वाली समस्त राशि का इस्तेमाल, हमारे ही विरुद्ध भारत के अन्य हिस्सों में लड़ी जा रही लड़ाई में किया जा रहा था। 1770 का देशव्यापी अकाल रोंगटे खड़े कर देने वाला था किन्तु कंपनी द्वारा गरीब किसानों, ग्रामीणों, कारीगरों व बुनकरों के साथ कोई रियायत नहीं देती गई। जुल्म बराबर जारी रहे। 1773 में पारित रेग्युलेशन एक्ट ने कंपनी को भारत भूमि का सम्राट, शहंशाह बना दिया। गवर्नर जनरल और उसके चार सलाहकार मिलकर भारतीयों का भाग्य लिखने लगे। कलकत्ता में सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गई। वारेन हेस्टिंग्स बने पहले गवर्नर जनरल। पर्शियन और हिन्दी भाषा जानने वाला वह योग्य और युवा अधिकारी था। कंपनी का फायदा और राजस्व बढ़ाना ही उसकी सर्वोच्च प्राथमिकता थी।

1775 में वाराणसी के राजा चैन सिंह ने कंपनी से समझौता करने के लिए समय मांगा जिसे हेस्टिंग्स ने स्वीकार नहीं करते हुए राजा चैन सिंह की गिरफ्तारी

के आदेश दे दिए। जब यह बात जनता को मालूम पड़ी तो जनता ने अपने राजा के पक्ष में महल में प्रवेश कर लिया। दोनों तरफ से हुए इस संघर्ष में भारी नरसंहार हुआ जिसकी आँच अवध तक भी पहुँची।

अवध में भी दुर्भिक्ष के कारण गरीब जनता और किसानों की स्थिति ऐसी नहीं रह गई थी कि बड़े हुए कर बोझ उठा पाते। परिणामस्वरूप यहाँ भी विद्रोह की स्थिति बनी। मुठभेड़ें व झड़पें होती रहीं। नवाब के विरुद्ध भी गुस्सा बढ़ा। खजाना निरंतर खाली होता गया।

वजीरअली नए हुकमरान के रूप में सामने आए जिन्हें कंपनी से असंतुष्ट कई विरोधियों का समर्थन प्राप्त था। कंपनी उनकी गतिविधियों को शक की नजर से देखने लगी और उन्हें कलकत्ता चले जाने का आदेश सुना दिया। उन्होंने आदेश नहीं माना तथा आदेश के विरुद्ध विद्रोह का झंडा बुलंद कर दिया। चूँकि वजीरअली ने यह कदम जल्दबाजी में और स्वार्थपूर्ति हेतु उठाया था अतएव उसे सख्ती से कुचल दिया गया।

इसी प्रकार 1814 में बरेली में लगान घटाने की माँग को लेकर किसानों का विद्रोह फूट पड़ा। मुफ्तीवाज इसका नेतृत्व कर रहे थे। उधर हैदरअली और टीपू सुल्तान तो अंग्रेजों को कतई पसंद नहीं करते थे और देश से खदेड़ देना चाहते थे किन्तु मराठाओं से लड़-लड़कर वे टूट चुके थे। अन्यथा अंग्रेजों को और कड़ी शिकस्त देने के उनके इरादे बुलंद थे।

हालाँकि इस महाविद्रोह के लिए सिपाही संगठित नहीं हो पाए थे। कोई समर्थ व कुशल नेतृत्व भी नहीं था जो सही दिशा में उनका नेतृत्व करता किन्तु अंग्रेजी सेना भी बंगाल, बॉम्बे और मद्रास प्रेसीडेंसी पर अलग-अलग बैटी हुई थी। इसलिए आन्दोलनकारियों को यकायक व एकमुश्त दबा पाना उनके लिए भी संभव नहीं था। बंगाल आर्मी की संख्या 1,70,000 थी। इनमें 1,40,000 भारतीय सिपाही, सैनिक थे।

अवध, बिहार, उत्तर पश्चिम प्रांतों से आए ब्राह्मण, जाट, राजपूत, मुस्लिम (खासतौर पर सैयद व पठान) इन सैनिकों में मुख्य हुआ करते थे। महाविद्रोह के दौरान इन भारतीय सिपाहियों को गाँव के पाटीदार, कोली व जमींदारों आदि का भी सहयोग मिलता रहता था। सेना में तब तक हिन्दू, मुसलमान जैसा कोई भेद नहीं था और स्वरूप मिला-जुला तथा पारस्परिक एकता को दर्शाता था।

इन्हें प्रायः युद्ध में व्यस्त रखने की बजाए उनसे अक्सर पुलिसिंग कराई जाती थी। उन्हें सैनिक छावनियों में रखा जाता था। सार्जेंट से ऊपर कभी कोई पदोन्नति इन सिपाहियों के लिए नहीं होती थी। इसके विपरीत अंग्रेज सिपाही अधिक युवा होते थे। अपनी सुविधानुसार वे 'मेस' में खाते थे। बंगलों में रहते थे—अपनी पत्नियों

व बच्चों के साथ। उन्हें पदोन्नतियाँ भी समय पर मिल जाती थीं और ओहदे में वे भारतीयों से ऊपर स्थान पा जाते थे। जबकि देशी सिपाहियों के लिए ऐसे कोई अवसर नहीं थे। महाविद्रोह के कारणों में यह पक्षपात व भेदभाव भी एक प्रमुख कारण था।

प्लासी युद्ध की सौवी वर्षगांठ पर एक वहाबी प्रचार के तहत देशी सिपाहियों ने 'ब्रिटिश-कंपनी-रूल' को उखाड़ फेंकने का संकल्प लिया था कि अब यह जुआ उतार फेंकेंगे और खुद मुख्तार बनेंगे। यह भावना भी इस विद्रोह में कहीं न कहीं काम कर रही थी। इनफील्ड रायफल्स के लिए चर्बी वाला कारतूस तो प्रत्यक्ष व सतही कारण बन गया था।

हिन्दू व मुसलमान दोनों के लिए चर्बी का सवाल मुख्य था। अंग्रेज अफसरों की गाली 'सुअर का बच्चा' सुनकर दोनों ही सैनिकों का खून खौल उठता था। इन सिपाहियों के लिए निःसन्देह नमक अर्थात् नौकरी महत्वपूर्ण थी पर तब भी वह 'धर्म' से ऊपर नहीं थी। अंग्रेज अफसरों द्वारा इन देशी सिपाहियों की धार्मिक आस्थाओं व मान्यताओं पर बार-बार प्रहार करना उन्हें फूटी आँख नहीं सुहाता था। असंतोष के पीछे एक कारण यह भी रहा। बातें छोटी-छोटी व नाखास थीं किन्तु नश्वर की तरह दिलों में उतर जाती थीं।

□□

रोटी और कमल

1757-कलकत्ता के पास प्लासी में क्लाइव की जीत और नवाब सिराजुद्दौल्ला की शिकस्त ने भारत में कंपनी राज की नींव को पुष्ट किया। सारा धन इंग्लैंड जाने लगा। 1857 तक के सौ सालों में भारत को पूरी तरह शिकंजे में कंपनी द्वारा ले लिया गया। 23 जून 1857 को 'विजय दिवस' मनाने संबंधी, शताब्दी समारोह की तैयारियों में व्यस्त कंपनी सरकार को अचानक ही फूट पड़ी 'रोटी व कमल' की भारतीय मुहिम ने साँसत में डाल दिया। यह मुहिम थी क्या? कौन चला रहा था? और इससे हासिल क्या करना चाहते थे? जैसे प्रश्नों ने कंपनी की नींद उड़ा दी। टॉर्नहिल, हार्वे से लगाकर लॉर्ड कैनिंग तक सब हैरान परेशान थे कि 'आखिरकार, यह अभियान है क्या?'

जाँच-पड़ताल! जवाबतलबी! खुद शहंशाह भी नावाकिफ़! या अल्लाह, ये किस्सा क्या है! रोटी के साथ रक्ताभ कमल। देने वाला और लेने वाला दोनों ऊँची आवाज में कहते—'सब लाल हो जाएगा?' नाना साहब पेशवा, जो कि अंतिम पेशवा बाजीराव—दूसरे के दत्तक पुत्र थे, एक दिन बिठुर में दासबुवा के मठ गए और अपने मन की उलझन उन्हें कह सुनाई। बैरागी दासबुवा ने अपनी धूनी में हाथ डाला। कुछ सिकी हुई चपातियाँ निकालीं, मूर्ति पर चढ़े फूलों से कमल के कुछ फूल बटोरे और प्रसाद स्वरूप नाना साहब को देते हुए आशीर्वाद दिया—'जहाँ तक आप इन्हें ले जाएँगे वहाँ तक आपका राज रहेगा।' घटना से स्पष्ट है कि 'रोटी और कमल' अभियान कुछ और नहीं क्रांति की भावना का प्रसार ही था। सुसंदेश! सर चार्ल्स नेपियर ने इस संभावित खतरे को भाँप लिया था। 'जब कभी असंतोष की ज्वाला भड़क उठेगी, तब उसे बुझाना आसान नहीं होगा। आसमान टूट पड़ेगा तभी आपको असलियत का पता चलेगा कि इस असंतोष का चेहरा भयानक भी हो सकता है।' और वह हुआ!

1857 : इतिहास और साहित्य / 45

29 मार्च 1857 का दिन। रविवार की छुट्टी थी। बैरकपुर छावनी में मंगल पांडे ने विद्रोह का झंडा बुलंद किया, किन्तु निशाना चूक गया। भगदड़ मच गई। मंगल पांडे ने खुद को गोली मार ली, किन्तु वह मरा नहीं। गिरफ्तार कर उपचार के लिए भेज दिया गया। एक सप्ताह बाद कोर्ट मार्शल हुआ और आखिरकार 8 अप्रैल 1857 को उन्हें फाँसी पर चढ़ा दिया गया। 'मुक्ति संग्राम'/'महाविद्रोह'/'जन-विप्लव' जो कहें—की यह प्रथम आहुति थी। अग्नि भड़क उठी।

10 मई 1857 मेरठ छावनी में सिपाहियों व सार्जेंटों के एक समूह ने जब चर्बीयुक्त कारतूस पर अमल से इन्कार कर दिया तो उसे अंग्रेज अफसरों ने हुकुमअदूली करार दिया और ऐसा करने वाले सिपाहियों को सूली पर चढ़ा दिया गया। सिपाहियों के लिए हुकुम मान लेने का मतलब था धर्म भ्रष्ट हो जाना जबकि अफसरों की निगाह में सिपाहियों की यह अवज्ञा खुले तौर पर 'सैनिक अनुशासन' की अवहेलना थी। गुस्सा भड़क उठा और विद्रोह का शंखनाद हो गया।

दिल्ली मेरठ से करीब ही था, सो अगले ही दिन 'चलो दिल्ली' का आह्वान हुआ और विद्रोही सिपाहियों ने दिल्ली घेर ली। जिसे गरीब किसानों, ग्रामीणों, नगरीय गरीबों/दलितों के साथ ही दिल्ली के दुर्गरक्षकों का भी खुला समर्थन मिला। ब्रिटिश अधिकारी जो दिल्ली में उस वक्त तैनात थे, भाग गए। जो सामने पड़े मार दिये गये।

जन मैदिनी ने लाल किले पर कब्जा कर लिया। सारे मतभेद भुलाकर बयासी वर्षीय पेंशन याफ़ता बादशाह-बहादुरशाह द्वितीय को अपना सर्व स्वीकार्य शहंशाह चुन लिया। लड़ाई की बागडोर अर्थात् नेतृत्व उन्हें सौंप दिया गया। पद-मुद्रा सहित सारे अधिकारी शहंशाह में वेष्टित हो गए। मुस्लिम उलेमाओं ने भी इस आशय के फतवे जारी कर दिये। ब्रिटिशर्स के विरुद्ध इस महाविद्रोह को ज़िहाद घोषित किया गया। एक बेमिसाल एकता के दर्शन हुए।

इस घटना ने जादू की तरह अपना असर दिखाया। बहादुरशाह भारत की स्वाधीनता के सच्चे प्रतिनिधि बन चुके थे। सारे लोगों ने सरकारी कोर्ट को नकार दिया और बहादुरशाह में अपना विश्वास जताया। शहर में खाद्यान्न तथा अन्य सामग्री का कृत्रिम अभाव निर्मित हो गया था। सिपाही आबादी यकायक बढ़ गई थी। देश भर से लोग पहुँच रहे थे। ऐसे में लूटपाट की भी कुछ घटनाएँ हुईं। मार-काट भी मची। किन्तु यह सब अनपेक्षित नहीं था। सामंतों जमींदारों ने भी इन विद्रोही सिपाहियों का न केवल समर्थन किया बल्कि दिल्ली को भेजा जाने वाला भू-राजस्व भी रोक लिया। कंपनी सरकार के साथ यह खुला 'असहयोग' था।

अराजकता तथा विपरीतताओं के बावजूद सिपाहियों ने एक 'प्रशासनिक बॉडी' का गठन भी किया जिसे आगे चलकर 'जलसा' नाम दिया गया। छः सदस्यीय

इस बॉडी में चार सदस्य शहरी जनता से भी थे। हालांकि विपरीतताओं से पार पा लेने में यह परिषद समर्थ नहीं थी। फलतः एक संगठित व गंभीर किस्म का रक्षात्मक प्रतिरोध स्थापित नहीं किया जा सका। अलबत्ता छोटे-मोटे प्रश्न व मामले तात्कालिक रूप से जरूर सुलझा लिए जाते थे। महत्वपूर्ण था इस महाविद्रोह के पार्श्व में छिपा आजादी का जज्बा!

फ्रेडरिक शेअर ने 'इंडिया गजट' में स्पष्ट संकेत दिया था... 'यहाँ के लोग कंपनी सरकार की सत्ता को स्वीकार नहीं करेंगे। वे सरकार को विदेशी हुकूमत के नज़रिये से देखते हैं। इस सच्चाई को हमें जान लेना चाहिए।' किन्तु किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। उलटे उनका मखौल उड़ाया गया। तबही तो उसी समय तय हो गई थी।

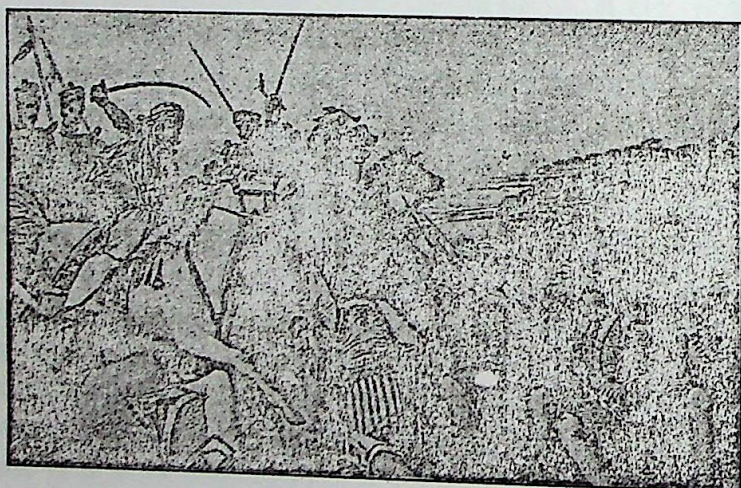
बैरकपुर से अंबाला छावनी लगभग एक हजार मील दूर थी। कंपनी का खयाल था मंगल पांडे की फौसी का समाचार यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते काफी वक्त ले लेगा किन्तु खबर को तो जैसे पंख लग गए थे। सैंतीसवीं पलटन को भी कुछ वैसा ही कर गुजरने की प्रेरणा हुई। शिमला में आराम फरमा रहे जॉर्ज अन्सन को इस सिलसिले में कैप्टन मार्टिनी का पत्र मिला। जिसे उन्होंने कोई खास तवज्जो नहीं दी और उपद्रव हो गया। कई बंगलों, कचहरियों में आग लगा दी गई। जॉर्ज अन्सन के होश फाख्ता हो गए।

24 अप्रैल से सिपाहियों का प्रशिक्षण मेरठ छावनी में होना था। हिन्दुओं ने गंगा की और मुसलमानों ने कुरआन की कसम ली थी कि हम चर्बी वाले कारतूस से युक्त इनफील्ड बंदूक नहीं उठाएँगे। वहाँ जमा पिच्चासी सिपाहियों में से किसी भी सिपाही ने वह बंदूक नहीं उठाई। यह कंपनी सरकार के मुँह पर जोरदार तमाचा था। कोर्ट मार्शल हुआ और सजाएँ सुना दी गईं। इस घटना ने आग में घी का काम किया। 9 मई को परेड ग्राउण्ड पर सभी सत्रह सौ सैनिकों के सामने सजायाफ्ता सैनिकों की वर्दी उतार ली गई। हथियार रखवा लिए गए। हाथों में बेड़ी डालकर उनका जुलूस निकाला गया। तब कहीं जाकर 10 मई को बगावत हुई थी और 11 मई को 'दिल्ली मार्च' संभव हो सका था।

विद्रोह की लहर हर तरफ दौड़ गई। हमले होने लगे। इंकलाब गूँज उठा। बंगाल के पश्चिमी क्षेत्र से पंजाब के उत्तर पश्चिमी क्षेत्र तक बगावत ही बगावत। कंपनी का कलकत्ता स्थित मुख्यालय वीरान हो गया।

□□

सिमटा रहा महाविद्रोह



अदम्य साहस श्लाघनीय वीरता
कानपुर में ब्रिटिश इन्फैंट्री पर टूट पड़े क्रान्तिकारी।

दोआब व सेन्ट्रल इण्डिया के हिस्सों को छोड़कर यह महाविद्रोह देशव्यापी रूप नहीं ले सका। बंगाल के गवर्नर जनरल केनिंग ने तमाम यूरोपियन्स को लामबन्द किया और सक्रिय बनाया। विद्रोही सैनिक कोई अगली योजना बनाकर उसे अंजाम देते केनिंग ने सैनिकों को निहत्था कर दिया। सिपाहियों का तेजी से दमन किया गया। पंजाब में जो भी थोड़ा बहुत विद्रोह हुआ था उसे कुचल दिया गया। विद्रोही सैनिकों से दुर्ग रक्षकों को शीघ्र ही अलग-थलग कर दिया गया।

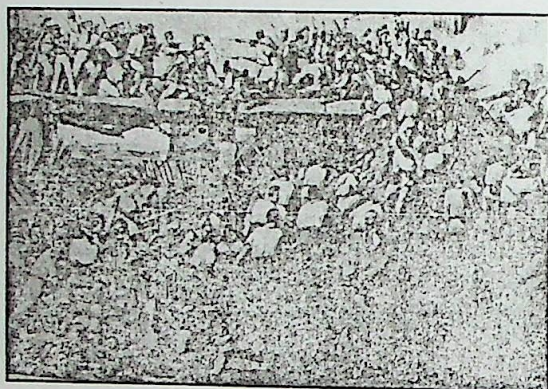
48 / 1857 : इतिहास और साहित्य

इसके ठीक विपरीत अवध तथा बुन्देलखंड के किसानों ने इस विद्रोह को पूरा समर्थन दिया। वे बाहर से अपने नए भूस्वामी खोज लाए। शासकीय भवनों पर छापे मारे, हमले किए और जमीन का भाड़ा चुकाना भी बन्द कर दिया। जमींदारों व तालुकेदारों से भी इन किसानों ने किनारा कर लिया। यही नहीं किसानों ने अपनी रक्षा के लिए समुदायों का गठन किया। हथियार भी जुटाए। कंपनी द्वारा हथिया ली गई अपनी जमीनों के कब्जे भी फिर से प्राप्त कर लिए।

दोआब में भारतीय लोगों ने विद्रोह में सक्रिय भूमिका निभाई। कई बड़े शहरों को मुक्त कराकर वहाँ अपना शासन स्थापित किया। 21 मई को अलीगढ़ में, 31 मई को बरेली व लखनऊ में, 4 जून को कानपुर में तथा 6 जून को इलाहाबाद में खानबहादुर खान के नेतृत्व में यह कास्नामा संभव हो सका। इलाहाबाद में एक शिक्षक, वहाबी मौलवी लियाकतअली के जिम्मे था—यह काम! पटना में एक वहाबी पुस्तक विक्रेता ने यह कमान संभाल रखी थी। हौसले काफी बुलंद थे।

अंग्रेज भी खामोश नहीं बैठे थे। प्रतिरोध के लिए वे भी जुटने लगे थे। मद्रास, ईरान और चीन से सैन्य टुकड़ियाँ बुलाई जा रही थीं। हालांकि उस समय दिल्ली में 65 हजार विद्रोही सिपाही थे। उनकी तुलना में ब्रिटिश सैनिक केवल 6 हजार ही थे। कई प्रकार के अभावों के चलते विद्रोही सिपाही दिल्ली से जाने लगे थे। नजफगढ़ में ब्रिटिशर्स से बख्तखान की शिकस्त भी देशी सिपाहियों में निराशा का एक बड़ा कारण बनी और वे दिल्ली से हटने लगे।

ब्रिटिशर्स भी हवा का रुख भाँप कर विगड़ी हुई बाजी को फिर से अपने हक में करने में कोई कमी नहीं छोड़ रहे थे। सितम्बर 1857 में उनके द्वारा कई सुधार लाए गए। व्यापारियों तथा मुस्लिम धार्मिक नेताओं के लिए कई रिआयतें बख्शी गईं किन्तु भू-राजस्व में किसी प्रकार की कोई कमी कंपनी बहादुर को मंजूर नहीं थी और ये ही सारी कोशिशें-विद्रोही सिपाहियों—विशेषकर उनके लिए जो गाँव से आए थे, के लिए विचलित कर देने वाली थीं। 14 सितम्बर तक ब्रिटिशर्स इन सारी कोशिशों के बीच सैन्य दलों का जमावड़ा भी कर चुके थे। यह संकेत था कि दिल्ली में फिर तूफान आने वाला है और पाँच दिनों के बाद ही उन्होंने दिल्ली शहर व किले पर कब्जा कर लिया। दुर्ग रक्षकों के लिए यह दुर्दिनों की शुरुआत थी। दिल्लीवासियों की भी इस तूफान में वो दुर्दशा हुई कि जिसका इतिहास में सानी कम ही मिलता है। जुल्म, सितम, अत्याचार, वहशीपन कुछ भी कम न था। चुन-चुन कर बदले निकाले गये। बॉम्बे के गवर्नर लॉर्ड एलिफिंस्टन भी दहल उठे—‘वो कहर नाजिल हुआ कि उनके जुल्मों ने नादिरशाह को भी मात कर दिया।’



पलट वार!

क्रान्तिकारियों की दिल्ली फ़तह के बाद जब सितंबर 1857 में अंग्रेज वापस लौटे, दिल्ली को कब्जे में लिया तो वे अधिक हिंस्र, अधिक बर्बर व पाशविक हो उठे थे। रौंद डाला था—क्रान्तिकारियों को। चुन-चुनकर बदले लिए थे। तवाही का मंजर...

कंपनी सरकार केवल इतने से ही संतुष्ट नहीं हुई। कंपनी ने उन सैन्य विद्रोहियों को भी प्रताड़ित व अपमानित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी जिन्होंने इस मुक्ति-संग्राम में सक्रिय शिरकत की थी। वह दिल्ली जो कुछ समय के लिए स्वाधीन भारत के सपने का पर्याय बन गयी थी दहल उठी। शहंशाह बहादुर शाह को कंपनी की बर्बरता के आगे दिल्ली छोड़नी पड़ी। दिल्ली से बाहर हुमायूँ के मकबरे में बादशाह सलामत को छिपना पड़ा। कंपनी सरकार ने उन्हें वहाँ भी चैन से नहीं रहने दिया। उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। बरतानी सैन्य अधिकारी हडसन द्वारा उनके बेटों के सर कलम कर उन्हें जब तोहफे में भेजे गए तब शहंशाह का दिल रोया नहीं बल्कि बादशाह ने प्रतिक्रिया में इतना ही कहा तैमूर के वंशजों की बलिदान की यही परंपरा रही है। बादशाह को गिरफ्तार कर रंगून भेज दिया गया जहाँ 1862 में उनकी मृत्यु हो गई। दिल्ली में हुए इस भयानक नरसंहार ने क्रूरता की सारी सीमाएँ लॉंघ ली। लंबे समय तक दिल्ली उजाड़ रहा।

दूसरी तरफ जनरल नील जो कलकत्ता से दिल्ली आ रहा था ने बनारस व इलाहाबाद में तवाही व बर्बरता के इसी मंजर को दोहराया। भ्रूषण नरसंहार हुआ। भारी बर्बादी हुई। नील की क्रूरता से लॉर्ड केनिंग भी अप्रसन्न हुए। किन्तु जुल्म जिनका स्वभाव बन गया हो वे कभी रुके हैं जो किसी की नाराजगी या अप्रसन्नता की परवाह करते और थमते! नील का स्थान लेने वाले जनरल हेवलॉक ने नरसंहार को अधिक वास्तविक, (या कहें) पाशविक बनाया। गाँव के गाँव जला दिए गए। लोगों को जहाँ जगह दिखी सूली पर टाँग दिया। निहत्थे/निर्दोष लोग फाँसी चढ़ गए। इसका सर्वाधिक शिकार हुआ कानपुर जो दिल्ली और लखनऊ के बीच पड़ता था। अलीगढ़, शाहजहाँपुर, बरेली, फरीदाबाद, आजमगढ़, मुरादाबाद तक ही नहीं



थर्रा उठी दिल्ली!

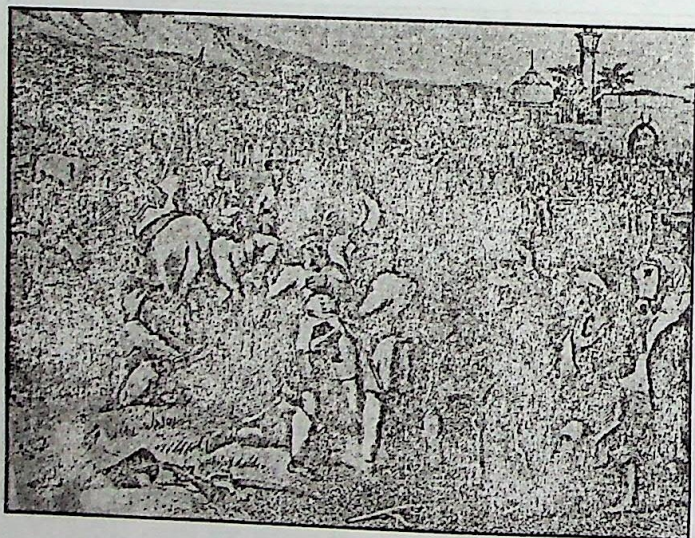
दिल्ली फतह हेतु लड़े
गए अंतिम मुकाबले
का एक और दृश्य।

यहाँ विद्रोहियों का नेतृत्व नाना साहब पेशवा कर रहे थे। नाना साहब के खास अंगरक्षक थे महापराक्रमी, शूरवीर तात्या टोपे। तात्या टोपे ने कंपनी सरकार की सेना को नाको चने चवाने को मजबूर कर दिया था। अजीमुल्ला खाँ नाना साहब के सचिव थे। उन्हें अच्छी शिक्षा मिली थी तथा वे दो बार यूरोप भी हो आए थे। शायद इसीलिए वे फूँक-फूँक कर कदम उठाते थे। उन्होंने एक अवसर पर नाना साहब को दिल्ली जाने से यह कहकर रोक दिया था कि, “दिल्ली जाकर हम क्या करेंगे? सोचिये, अगर हमने दिल्ली पर कब्जा कर लिया, तो भी दिल्ली के तख्त पर तो बहादुरशाह को ही बिठाया जाएगा। वह आपको दीवान बनाएगा। इससे आपको क्या लाभ होगा?” ...“हम कानपुर लौट चलें। हमारे पास चार टुकड़ियों की फौज है। कानपुर की जनता आपको राजा मानती है। वह आपका साथ देगी। हम फिरंगियों को देश से निकाल देंगे। दिल्ली का दीवान होने के बदले बिठुर का राजा होने में ज्यादा फायदा है।” नाना साहब ने राय बदल दी और वे दिल्ली नहीं गए। दुर्ग रक्षकों ने तीन सप्ताह में समर्पण कर दिया। ब्रिटिश सिपाही व उनके परिवार उनकी किलेबंदी में सुरक्षित हो गए। इसी बीच दस हजार विद्रोही सिपाही तथा किसान शहर में जमा हो गए। अभाव उन्हें यहाँ भी झेलना पड़ा।

नाना साहब पेशवा की जून 1857 के अंतिम दिन बिठुर के राजा बनने की अंतिम इच्छा बमुश्किल पूरी हो सकी। सचिव कहेँ या दोस्त अजीमुल्ला ने उन्हें खुलकर महाविद्रोह में कूद पड़ने से रोका और उनकी सारी कोशिशें कानपुर तथा बिठुर के बीच सिमटकर रह गईं। ‘बीबी घर’ में अंग्रेज औरतों, बच्चों का कल्लेआम उनके संघर्ष पर काला धब्बा बनकर इतिहास में दर्ज हो गया। ब्रिगेडियर जनरल हेवेलॉक बदले की आग में जल रहा था।

□□

दिल्ली बनाम अवध



आमने-सामने

जंगी मुकाबले से पहले क्रान्तिकारी देशी सिपाही और जिरह बख्तर पहने अंग्रेजों की सेना व सज्जित तोपखाना...

अवध व लखनऊ को दिल्ली के बाद अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता था। मेरठ, कानपुर, दिल्ली व फतेहपुर में विद्रोह हो चुके थे। यहाँ भी लोगों में कंपनी सरकार के प्रति असंतोष बढ़ता जा रहा था। अवध की गद्दी को खर्खास्त कर दिया गया था। विलियम स्लीमैन ने गवर्नर जनरल लॉर्ड डलहौजी को लिखा था 'अगर अवध की जनता को कोई कष्ट पहुँचा, तो बंगाल आर्मी विद्रोह करेगी। कृपया इस बात को ध्यान में रखिए।' रेजिडेंट सर जेक्स 'आउट्रम के बीमार पड़ने पर बागडोर कोवली जैक्सन को सौंपी गई थी। वह मगरूर और वद्विमाग था। पहले तो उसने नवाब की हवेली

52 / 1857 : इतिहास और साहित्य

पर कब्जा किया फिर नवाब के पूरे खानदान को बेदखल कर दिया। लोग हालाँकि नवाब से नाराज थे किन्तु नवाब की यह दुर्दशा देखकर भड़क गए।

अप्रैल 1857 के प्रारंभ में लोगों का असंतोष फूट पड़ा और वह विद्रोह की शक्ति में सामने आया। डॉ. वेल्स के बंगले में आग लगा दी गई। इस पर लॉरेंस गुस्से से तमतमा उठा और देशी सिपाहियों की कॉलोनी पर हमला बोल दिया। उधर देशी सिपाही रेजीडेंसी के बंगलों को आग लगाते रहे। सभी बागी सिपाही रेसकोर्स मैदान पर इकट्ठे होकर अगली रणनीति तय कर रहे थे कि लॉरेंस ने अचानक हमला बोल दिया। कुछ तो भाग गए मगर आठ सिपाही पकड़ में आ गए। अन्ततः लॉरेंस मारा गया। सारी अंग्रेज औरतें, बच्चे, रेजीडेंसी में कैद कर दिए गए। उधर बिठुर क्षेत्र में नाना साहब पेशवा व हेवलॉक के सिपाहियों में जबर्दस्त संघर्ष हुआ। 25 सितम्बर 1857 की रात रेजीडेंसी बागी सिपाहियों के घेरे से मुक्त करा ली गई। आउट्रम, नील व हेमिल्टन की फौजों ने हेवलॉक के मार्गदर्शन में लड़ाई लड़कर विद्रोह पर फतह पा ली किन्तु अवध अभी भी शांत नहीं था।

दिल्ली से लौटे विद्रोही सिपाही लखनऊ आकर मिल गए। वहाँ लगभग एक लाख सैनिक हो गए। 'अभियान-लखनऊ' के समय जो सिपाही आउट्रम के हाथ आ गए थे उनका कत्ल कर दिया गया। गोमती किनारे उन्हें बंदूक से उड़ा दिया गया। इसकी तीखी प्रतिक्रिया जनता में हुई। गुस्सा भड़क उठा। अंग्रेजों के सर कलम कर काठी पर लटकाए जाने लगे। नरमुंडों के जलसे हुए। इसी बीच तात्या टोपे का आगमन एक वीर देशभक्त के रूप में हुआ। कैपबेल के लिए तो तात्या अबूझ पहेली थे। तोप युद्ध छिड़ गया। अंग्रेजों की बड़ी व लंबी दूरी तक मार करने वाली तोपों का मुकाबला तात्या की देशी तोपें नहीं कर सकीं।

कैपबेल ने 6 दिसम्बर को कानपुर पर हमला किया। जोरदार मुकाबला हुआ। 6 दिसम्बर से 6 जनवरी, पूरे एक महीने तक तात्या ने धैर्यपूर्वक अंग्रेजी सेना का मुकाबला किया। 6 जनवरी को फतहगढ़ पर कब्जा कर लेने में अंग्रेज सफल हो गए। इससे कैपबेल का हौसला बढ़ा। लेफ्टिनेंट राबर्ट विंडाल्फ को अगली कमान सौंपी गई। राबर्ट विंडाल्फ ने निर्दोष गांव वालों को गोलियों से भूनने का नया व बर्बर इतिहास रचा। फतहगढ़ से कानपुर तक फैले गाँवों में आग लगा दी। भीषण अग्निकांड, भारी नरसंहार।

दिल्ली की तरह ही अवध और लखनऊ की तबाही हुई। राजधानी की शान मिट्टी में मिल गई। अंग्रेज सिपाहियों ने विद्रोहियों का सफाया करने के बाद भारी 'ब्लूट' मचाई। डकैतों को भी शर्मसार कर दिया। 28 मार्च 1858 को लखनऊ पर कंपनी सरकार का ध्वज फहराने लगा। लंदन के 'टाइम्स' ने इस फतह को

कुछ इन शब्दों में इस तरह अभिव्यक्ति प्रदान की “इस जीत के कारण आउट्रम और कैपबेल के सिपाही मालामाल हो गए। उन्होंने केवल छः दिनों के भीतर आठ लाख रुपये कीमत की सम्पत्ति लूट ली।” शेम! शेम! लानत है!

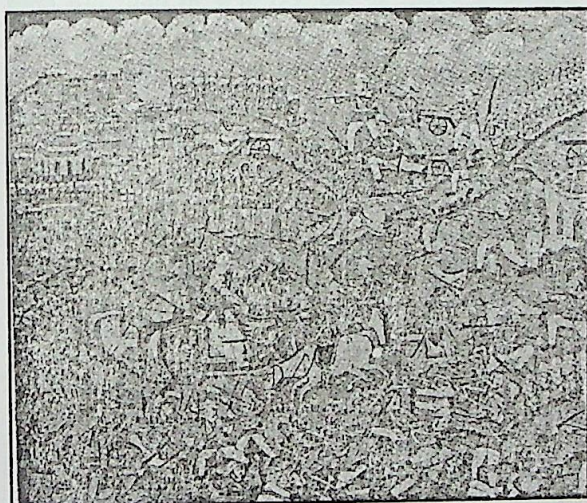
खबर आई कि रोहिलखंड के वागियों ने बहादुरखान के नेतृत्व में चढ़ाई की तैयारियाँ शुरू कर दी हैं। कैपबेल को तुरन्त बरेली की ओर जाना पड़ा। यहाँ उन्होंने कमान वाल्पोल को सौंप दी। तालुकेदार के सिपाहियों की वीरतापूर्ण रणनीति तथा बुलंद हौसलों के कारण वाल्पोल को मुँह की खानी पड़ी। उसकी शिकस्त हुई। उधर कैपबेल की सेना का मुकाबला करने की शक्ति उसमें नहीं बची थी। परिणामस्वरूप उसने बरेली तो छोड़ दी किन्तु कैपबेल की पलटन पर अपने दबे छुपे हमले जारी रखे। रोहिलखंड पर बहादुरखान का खासा दबदबा था।

फैजाबाद में एक मौलवी कंपनी सरकार की आँखों की किरकिरी बन गया था। कौन है यह? कुछ दिनों तक तो अंग्रेजी सेना इसी पड़ताल में उलझी रही। अंत तक कोई नहीं जान पाया कि वह मौलवी कौन था? लहीम शहीम। ऊँची कद काठी। दिखनौटा व आकर्षक व्यक्तित्व था उस मौलवी का। उसने फैजाबाद के अपने दोस्तों व परिचितों का आह्वान किया था कि ‘हम फिरंगियों को अवध से हटा देंगे। अवध की गद्दी पर बेगम हजरत महल के छोटे नवाब को बिठाएंगे।’ तुरन्त असर हुआ। लोग साथ आते गए और लश्कर बनता गया।

मौलवी ने रोहिलखंड को छोड़ शाहजहाँपुर को अपना नया ठिकाना बना लिया। उसकी वीरता व बहादुरी के किस्से सुन-सुनकर कंपनी सरकार के अधिकारी भीतर ही भीतर डरने लगे थे। यह इससे भी साबित होता है कि कंपनी ने मौलवी पर उस जमाने में पचास हजार रुपयों का इनाम रखा था। कंपनी सरकार का साथ देने वाले जागीरदारों पर मौलवी के हमले तेज होने लगे। ‘पवयन’ के सरदार की गद्दी पर मौलवी हाथी पर सवार होकर हमला करने पहुँचा। महावत को उसने मुख्य द्वार तोड़कर भीतर प्रवेश करने का हुक्म दिया। मौलवी गद्दी में प्रवेश करने में तो सफल रहे। तभी जागीरदार के लोगों ने मौलवी पर गोली चलाना शुरू कर दिया। एक गोली मौलवी की गर्दन में लगी। वह हाथी के होदे से नीचे गिर पड़ा। तुरन्त मृत्यु हो गई। जागीरदार के कारिन्दों ने मौलवी का कटा हुआ सर शाहजहाँपुर के मजिस्ट्रेट को पेश कर पचास हजार रुपयों का पुरस्कार जीत लिया। उधर, मजिस्ट्रेट के आदेश पर लोगों में खौफ तथा दहशत फैलाने के उद्देश्य से मौलवी के कटे हुए सर को कोतवाली पर लटका दिया गया।

रोहिलखंड में तो शांति छा गई पर अवध से अभी भी छिटपुट हमले कंपनी के सिपाहियों पर किए जाने की खबरें मिलती रहती थीं। जब अंग्रेजों ने सख्ती

बरती तो कुछ बागी तो गाँवों में जाकर छुप गए तथा कुछ ने नेपाल की ओर भाग कर अपनी जान बचाई। बिहार के कुँवरसिंह ने आजमगढ़ का लश्करी थाना घेर लिया। मार्क केर और कुंवर सिंह में युद्ध हुआ। जंगलों में काफी समय तक लुकाछिपी चलती रही। इस छापामार कार्रवाई से एडवर्ड लुगर्ड परेशान हो गया। जगदीशपुर के जंगल फिरंगियों के लिए सिरदर्द बन गए। आखिरकार, सात हजार सैनिकों को लेकर डगलस जगदीशपुर पहुँचा। कुँवरसिंह तथा उनके भाई अमरसिंह ने अपने साथियों की मदद से अंग्रेजों को एक वर्ष तक छकाया तब कहीं जाकर उनसे छुटकारा हो सका।



कला-दृष्टि

खूब लड़ी मर्दानी...
युद्ध मैदान में सजी रानी
लक्ष्मीबाई व उनकी
सेना—एक कलाकृति

8 जनवरी को झाँसी में विद्रोह फैल गया। देशी सिपाहियों ने छावनी में घुसकर अंग्रेजों का कत्ल करना शुरू कर दिया। जेल के कैदियों को रिहा करके अपने साथ मिला लिया। शहर के सभी अंग्रेज उन दिनों नगर द्वार स्थित किले के पास रहने गए हुए थे। बागियों ने किले को घेर लिया। अब अंततः किलेदार ने एक शर्त रखी कि 'सारे अंग्रेज शहर छोड़ने को तैयार हैं बशर्ते उनके साथ कोई धोखा नहीं हो।' जिन अंग्रेजों का पूरा राज-काज ही धोखे पर टिका था वे उम्मीद कर रहे थे कि उन्हें निरापद निकल जाने दिया जाए!

बागियों ने इसका फैसला महारानी लक्ष्मीबाई पर छोड़ दिया। रानी तो पहले ही अंग्रेजों से चोट खाए हुए थीं क्योंकि अंग्रेज उनके दत्तक पुत्र को नामंजूर कर झाँसी की गद्दी बर्खास्त कर चुके थे। वे इस पीड़ा को चुपचाप तीन वर्षों से सह रही थीं। वीरांगना लक्ष्मीबाई ने बागियों का नेतृत्व स्वीकार करते हुए हुंकार भरी

कि 'मैं अपनी झांसी नहीं दूँगी।' इस बगावत को दबाने सर ह्यूरोज झांसी के द्वार पर आ धमका। दसवें दिन किले की दीवार को तोप से भेदने में उसे सफलता मिल ही गई। फिर भी महारानी रणचण्डी बनी नेतृत्व प्रदान करते हुए युद्ध करती रहीं।

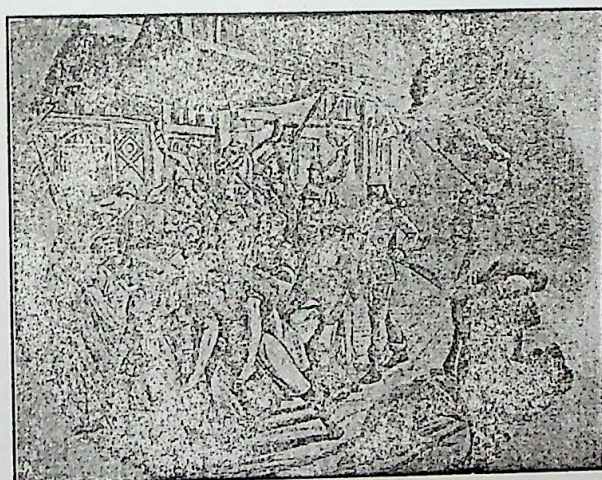
पराजय किसी भी स्थिति में महारानी को स्वीकार नहीं थी तथापि शिकस्त समीप देख महारानी ने भूमिगत होने की योजना बनाई कि ठीक उसी समय उनकी मदद के लिए तात्या टोपे आ पहुँचे। महारानी, झाँसी से कालपी, कालपी से ग्वालियर के रास्ते कोटे की सराय क्षेत्र में ह्यूरोज की सेना से घिर गई। अचानक महारानी को गोली लगी। कुछ बैरागियों व संन्यासियों द्वारा दवा पानी भी किया गया किन्तु उन्हें बचाया नहीं जा सका। उनके प्राण-पखेरू उड़ गए। 17 जून 1858 को उनका दाह संस्कार उन्हीं संन्यासियों के आश्रम के पास कर दिया गया।

तात्या ने ग्वालियर छोड़ राजपुताने की राह पकड़ी किन्तु खेद, राजपुताने का कोई नरेश कंपनी सरकार के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाने को तैयार नहीं हुआ। सिख तो पहले ही पल्ला झाड़ चुके थे। उनके राजा दिलीपसिंह तो पहले ही ईसाई धर्म स्वीकार कर चुके थे। ग्वालियर राज्य की नरवर रियासत के जागीरदार थे मानसिंह। तात्या से उनका विचार-विमर्श हुआ। तात्या ने मानसिंह का आतिथ्य स्वीकार किया और रात्रि विश्राम भी किया। आधी रात में तात्या ने स्वयं को अंग्रेज सिपाहियों की संगीनों के बीच घिरा हुआ पाया। समर्पण के सिवाय कोई चारा शेष नहीं रह गया था। मानसिंह विश्वासघात कर अंग्रेजों के प्रति अपनी वफादारी साबित कर चुके थे। 18 अप्रैल 1859 को तात्या टोपे को सिपर्ड में फाँसी दी गई। यद्यपि अब नये तथ्य सामने आए हैं कि उन्हें फाँसी नहीं हुई थी... जो भी हो!

8 अप्रैल 1857 को शहीद मंगल पांडे की आहुति के बाद अंग्रेजों की गुलामी के जुए से मुक्ति की कामना के साथ जिस 'जन विप्लव' ने करवट ली थी और महाविद्रोह उठ खड़ा हुआ था वह 18 अप्रैल 1859 को सिपर्ड में तात्या टोपे की फाँसी के साथ कुछ समय के लिए शांत कर दिया गया। स्वाधीनता की चेतना फैल चुकी थी। लोग संगठित होने लगे, कंपनी को जाना पड़ा। महारानी विक्टोरिया का शासन घोषित हुआ। सामंत, सरदार, जमींदार, जागीरदार, राजे, नवाबों की आशाएँ करवट लेने लगीं। इन सभी बिन्दुओं पर हम अन्त में विचार करेंगे। फिलहाल मैं इस महाविद्रोह के समय 'सेंट्रल इंडिया' विशेषकर मध्य भारत के इलाकों में मुक्ति की भावना कैसे परवान चढ़ी, देशी रियासतों का उनके साथ क्या व्यवहार रहा आदि पहलुओं पर भी संक्षेप में विचार करना आवश्यक समझता हूँ।

□□

बादशाह पर मुकदमा



अग्नि-दाह!

बर्बर अंग्रेजों ने
जला दिये गाँव के
गाँव! घर के घर!
कानपुर जिले का
एक जलता हुआ
गाँव।

‘मुख्तार गुलाम अब्बास (की गवाही से, कुछ चुनिन्दा अंश)

- | | | |
|----------------|---|--|
| सरकारी वकील | — | 10 मई 1857 को जब बागी सेना मेरठ से आई थी तब तुम कहाँ थे? |
| मु. गु. अब्बास | — | इसी दीवाने खास में था। |
| सरकारी वकील | — | तुमने उस समय जो कुछ देखा हो, उसको ब्यौरेवार सुनाओ। |
| मु. गु. अब्बास | — | सवेरे 8 बजे 5-6 सवारों के आने की बात सुनी गई। वे बादशाह की बैठक के बाहर थे। पहले उन्होंने जोर-जोर से चिल्लाना शुरू किया। इस पर बादशाह ने अपने गुलामों को उन्हें देखने के लिए भेजा... |

1857 : इतिहास और साहित्य / 57

तब बादशाह अपनी बैठक से मिले हुए कमरे में आए और मुझे बुलाया। उन्होंने मुझसे कहा—यह सवार मेरठ में विद्रोह फैलाकर आए हैं और अब चाहते हैं कि धर्म का पक्ष लेकर अंग्रेजों से लड़ें। उनका वध करें।

बादशाह ने मुझे तुरन्त ही कप्तान डगलस के पास जाने, पूरा विवरण उन्हें बता देने और उन्हें बुला लाने की आज्ञा दी। मैं कप्तान डगलस के पास गया और उन्हें सारा समाचार कह सुनाया। इतना सुनते ही कप्तान डगलस मेरे साथ हो लिए।

बादशाह (कप्तान डगलस से)— आपको मालूम है कि क्या मामला है? ये

फौजी सवार आए हैं और अपनी इच्छानुसार कार्यवाही बहुत जल्द प्रारंभ करना चाहते हैं।

कप्तान डगलस — आप बैठक का दरवाजा खुलवा दें जिससे मैं सवारों से आमने-सामने कुछ बातचीत कर सकूँ।

बादशाह — परिस्थिति प्रतिकूल है, वे लोग भड़के हुए हैं। कहीं आप पर हमला न कर दें। इसलिए मैं दरवाजा न खोलने दूँगा। (कप्तान ने जिद की पर बादशाह ने उन्हें हाथ पकड़ कर रोक दिया)

बादशाह — मैं तुम्हें जाने न दूँगा।

बादशाह के राज्य हकीम — एहसन उल्ला खाँ जो उनके सचिव भी थे और घटनास्थल पर पहले से मौजूद थे ने डगलस का दूसरा हाथ पकड़ते हुए कहा)

एहसन उल्ला खाँ — अगर आपको बातचीत करना ही है तो बरामदे से कर लीजिए। और हुआ भी यही। डगलस ने देखा—वहाँ 30-40 सवार थे। कुछ के हाथों में खुली तलवारें थीं, कुछ पिस्तौल और कारतूस लिये हुए थे। कई सवार एक पुल की ओर से चले आ रहे थे। उनके साथ कुछ पैदल भी थे जो शायद सईस थे। उनके सरों पर गठरियाँ थीं।

बादशाह ने नगर और किले के दरवाजे बन्द करने के लिए कहा ताकि विद्रोही अन्दर न आ सकें किन्तु डगलस ने बादशाह से नहीं डरने की बात कही और वे अगले प्रबंध हेतु चले गए।

[ख्वाजा हसन निज़ामी द्वारा लिखित पुस्तक 'बहादुर शाह का मुक़दमा' में तीसरे दिन की कार्यवाही से उपरोक्त वर्णन यह दिखाने के लिए लिया गया है

कि बागी सिपाहियों के साथ मिल कर बादशाह ने कोई षड्यंत्र नहीं किया था तत्कालीन 'कंपनी-राज के विरुद्ध!']

अंग्रेजों को यह 'श्रेष्ठता-बोध' अक्सर सताया करता था (सताता भी क्यों नहीं, उन्होंने वह साम्राज्य कायम कर लिया था जिसमें कभी सूर्यास्त होता ही नहीं था!) कि—वे शासन करने के लिए ही पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं। यह नस्लवाद का अधिक परिष्कृत, उदार व लोकतांत्रिक चेहरा था। जैसे आज अमेरिकी साम्राज्यवाद खुद को दुनिया का चौधरी समझ बैठा है यद्यपि, अमेरिका के समक्ष आज चुनौतियाँ और विरोध अधिक प्रबल व जटिल हुए हैं।

लिहाज़ा अपनी निष्पक्षता, निडरता और न्यायप्रियता का चेहरा दुनिया के सामने वचाए रखने के लिए ताकि कोई लॉछन अथवा आरोप नहीं लगे—अंग्रेजों ने क्रांति के तत्कालीन नेतृत्व, मुगल बादशाह, दिल्ली के सम्राट बहादुरशाह (द्वितीय) पर वाकायदा मुकदमा चलाया, आरोप तय किए, गवाह पुरावे दलील और वकील ...आदि संपूर्ण नाटक के बाद देश निकाले की सजा—जहाँ मृत्यु मानो सम्राट की प्रतीक्षा कर रही थी। अर्थात् 'रिन्द के रिन्द रहे हाथ से जन्नत न गई'?

क्या था मुकदमा? क्या आरोप लगे थे? गवाह-पुरावे-सबूत और सजा क्या थी? कैसे पूरी प्रक्रिया अंजाम तक पहुँची? उसे समझने के क्रम में से जो कुछ हमने जाना उससे कुछ चुनिन्दा जानकारियाँ, संक्षिप्त झलक व प्रमाण के रूप में हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं :

बादशाह द्वारा बार-बार अपनी बेचारगी स्वीकार किए जाने के बाद कि—वे तो नाममात्र के बादशाह थे जिसके पास न खजाना, न फौज और न तोपखाना था। मैंने कोई भी हुक्म अपनी इच्छा से नहीं दिया। जाँच कमीशन व अदालत ने उन्हें उन अभियोगों का दोषी माना जो उन पर लगाए गए थे। पूरा मुकदमा एक साजिश के तहत, देश व दुनिया पर यह प्रभाव डालने के लिए प्लान किया गया था कि अंग्रेज एक न्यायप्रिय नस्ल हैं। देश के हिन्दू और मुसलमानों ने एक साथ मिलकर 1857 के इस महासमर को लड़ा था जो अंग्रेजों की आँख की किरकिरी बना था। कंपनी राज तो चला गया लेकिन विक्टोरिया के शासन ने 'फूट डालो और राज करो' को अपनी ऑफ़िशियल-नीति के रूप में अपनाकर उस किरकिरी की पीड़ा से निजात पाई।

11 मई 1857 मेरठ छावनी के बहादुर सिपाहियों ने दिल्ली पहुँचकर बादशाह के सामने गुहार लगाई कि आप अपना हाथ हमारी पीठ पर रखें। हमारा नेतृत्व स्वीकारें। हम अंग्रेजों से विद्रोह कर के आए हैं। हमारे साथ इंसाफ हो। हम आपको हिंदुस्तान का बादशाह बनाना चाहते हैं।

बादशाह सलामत, जो खुद अंग्रेजों की पेंशन पर गुजारा कर रहे थे ने अपनी तंगहाली और बेचारगी इन सिपाहियों के समक्ष कुछ यों बयों की—“मेरे पास खजाना नहीं है कि तुम्हें तनखा दे सकूँ, न फौज ही है कि तुम्हारी कोई मदद कर सकूँ। सल्तनत भी नहीं है कि तुम लोगों को अमलदारी में रख सकूँ।”

जवाब में सिपाहियों ने कहा—“हमें यह सब कुछ नहीं चाहिए। हम आपके कदमों पर जान न्यूँछावर करने आए हैं। आप बस अपनी दया का हाथ हमारे सर पर रख दीजिए।” बहादुरशाह एक बार फिर, गगनभेदी जयकारों, नारों और तालियों की गड़गड़ाहट के बीच हिन्दुस्तान के बादशाह बन गए। सील व पदमुद्रा जारी हो गई। हस्ताक्षर, पुर्जे व हुक्म चल पड़े। तोपखाने ने इक्कीस तोपें दागकर उन्हें सलामी दी...और इस तरह भारत की पहली जंगे आज़ादी के नायक बन गए—बहादुरशाह।

किंतु 11 मई 1857 को कुबूल उनकी यह सल्तनत कुल एक सौ चौतीस दिन अर्थात् 20 सितंबर 1857 तक ही कायम रह सकी। सैनिक बिखरने लगे। दिल्ली टूट गई और अंग्रेज फिर काबिज़ हो गए। लेकिन बादशाह जब तक रहे पूरे हौंसले, आत्मविश्वास और बहादुरी के साथ काम करते रहे।

देश के राजे, महाराजे, नवाबों, जमींदारों, जागिरदारों, ताल्लुकेदारों को जंगे आज़ादी के लिए प्रेरित व तामबंद करने की भरसक कोशिश—सत्ता संभालने के बाद बहादुरशाह करते रहे। हिन्दू मुसलमानों को एकता के सूत्र में बाँधा। क्रांतिकालीन आज़ाद हुक्मत के संविधान में गोवध पर पाबंदी इस एकता का मजबूत आधार बनी। इतिहास साक्षी है कि बहादुरशाह के नेतृत्व में इन स्वतंत्रता संग्राम सैनिकों ने देश को आज़ाद कराने के मजबूत इरादों के साथ भूखे प्यासे रहकर भी बुलंदियों को छुआ। अकेले दिल्ली की 20-21 दिनों की मुठभेड़ों में अंग्रेज फौजों के चार हजार से अधिक सैनिक मारे गए जिनमें अधिकारी भी शामिल थे।

इस सब के बावजूद बादशाह की शिकस्त हुई। 20 सितंबर 1857 को जंगे आज़ादी के सपनों पर उस समय पाला पड़ गया जब बहादुरशाह ने अपनी वेगम, शहजादों और नौकर-चाकरों के साथ हुमायूँ के मकबरे पर जाकर पनाह ले ली। जनरल विल्सन ने तालकिले पर जब पलटन भेजी तो वहाँ मौत का सन्नाटा था। मुकाबले के लिए परिन्दा तक नहीं बचा था।

इस शिकस्त की वजह क्या थी? एक अंग्रेज इतिहासकार के शब्दों में—“अगर पलटनों के हिन्दुस्तानी सिपाही ईमानदारी का परिचय नहीं देते और देशी राजाओं की मदद उन्हें नहीं मिली होती तो फिरंगी पलटनें हफ्ते भर से ज्यादा नहीं टिक पातीं।” देशी सिपाहियों की पूर्ण सहभागिता इस मूवमेंट के दौरान प्राप्त नहीं हो सकी थी। पंजाब और राजपुताना के अधिकांश सिपाही फिरंगियों के साथ थे। वहाँ विद्रोह मुकम्मिल नहीं था।

60 / 1857 : इतिहास और साहित्य

20 सितंबर को दिल्ली का पतन हुआ और 21 सितम्बर को हुमायूँ के मकबरे से बहादुरशाह को गिरफ्तार कर लिया गया। 22 सितंबर को बादशाह के तीनों शहजादों—मिर्जा मुगल, अबू बकर और खिज़्र सुलतान को जनरल हडसन सौ सैनिकों की एक टुकड़ी के साथ झूठे आश्वासनों की आड़ में बन्दी बना लाया। दिल्ली गेट के पास खूनी दरवाजे पर लाकर उन्हें गोलियों से भून डाला। बाद में उनके सर काट कर तीनों कबन्ध टाट में लपेट कर चाँदनी चौक कोतवाली के बाहर चबूतरे पर डाल दिये गए जहाँ कई दिनों तक वे लाशें खुले में पड़ी सड़ती रहीं।

शहजादों के तीनों कटे हुए सर एक थाल में सजाकर रेशमी लिहाफ में ढँककर बेगम जीनत महल व बहादुरशाह को यह कह कर पेश किए गए कि 'यह तुम्हारी पेंशन है।' और जब बहादुरशाह ने थाल पर से कपड़ा हटाया तथा शहजादों के कटे हुए सर देखे तो बिना विचलित हुए जो प्रतिक्रिया दी वह थी—

‘तैमूरी खानदान के लोग हमेशा इसी तरह सुखरू होकर सामने आते हैं।’

बहादुरशाह पर मुकदमा चलाना तय हुआ। लेफ्टिनेंट कर्नल एम. डॉस की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया गया। लालकिले के दीवाने-खास में, जहाँ कभी खुद यह अंतिम मुगल सम्राट बैठकर फैसले किया करते थे पर मुकदमें की कार्यवाई 27 जनवरी 1858 से लेकर 9 मार्च 1858 तक (कुल 21 दिनों तक) चलाई गई। बहादुरशाह के साथ उनके मुख्तार गुलाम अब्बास थे और ब्रिटिश सरकार की पैरवी मेजर फ्रेडरिक जे. हेरियट, डिप्टी जज—एडवोकेट जनरल ने की थी। कई गवाहियाँ हुईं, बयान हुए, दस्तावेज के रूप में डायरियाँ। अखबार आदि पेश हुए और अन्ततः....

अभियोग जो लगाए गए : अभियुक्त ने भारत सरकार का पेंशनभोगी होते हुए 10 मई 1857 से 1 अक्टूबर 1857 के बीच कई अवसरों पर तोपखाना रेजीमेंट के सूबेदार मुहम्मद बख्ता खाँ और बहुत से व्यक्तियों, देशी अफसरों व सिपाहियों को जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी की फौज में नौकर थे विद्रोह और विप्लव करने के लिए भड़काया और मदद की।

- इन्होंने इसी उपरोक्त अवधि में भारत सरकार की प्रजा, अपने पुत्र मिर्जा मुगल और दिल्ली तथा उत्तरी पश्चिमी प्रदेश के अनेक अज्ञात नागरिकों को सरकार के विरुद्ध हथियार उठाने में मदद की और इसके लिए उनके साथ मिलकर षड्यंत्र किया। उन्हें प्रेरित किया।
- इन्होंने ब्रिटिश इण्डिया की प्रजा होते हुए भी खुद राजभक्ति का पालन नहीं किया। 11 मई के आस-पास खुद को दिल्ली का सम्राट घोषित किया व दिल्ली नगर पर अनुचित अधिकार कर लिया। 10 मई से 1 अक्टूबर 1857 के बीच इन्होंने अपने पुत्र मिर्जा मुगल तथा तोपखाना के सूबेदार

मुहम्मद बख्त खाँ के साथ षड्यंत्र करके विद्रोह का झण्डा उठाया। ये ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध करने को तत्पर हुए और ब्रिटिश शासन का तख्ता उलट देने के अभिप्राय से इन्होंने सशस्त्र सिपाहियों को विद्रोही दिल्ली में एकत्र करके उन्हें इस सरकार के विरुद्ध लड़ने के लिए उद्यत किया।

- 16 मई 1857 को या उसके आसपास दिल्ली के किले के भीतर 49 अंग्रेजों का, जिनमें स्त्री और बच्चे भी थे, अभियुक्त ने वध कराया या वध कराने में भाग लिया और 10 मई और 1 अक्टूबर के बीच अंग्रेज अफसरों व ब्रिटिश प्रजा की जिनमें स्त्री और बच्चे भी सम्मिलित थे, हत्या कराने में सहायता दी और हत्या करने वालों को नौकरी, वेतन वृद्धि तथा पद देने का वचन दिया।

इसके अतिरिक्त इन्होंने विभिन्न देशी नरेशों के नाम आज्ञा-पत्र निकाले कि वह अपने राज्य में जहाँ कहीं इसाईयों को पावें, वध करा दें।

सन् 1857 ई. के 16वें एक्ट के अनुसार इस प्रकार का व्यवहार भीषण अपराध है।

दिल्ली

(ह) फ्रेड जे. हेरियट

जनवरी सन् 1857 मेजर, डिप्टी जज, एडवोकेट जनरल सरकारी वकील

मुकदमे की शुरुआत करते हुए जब अदालत ने पूछा—मुहम्मद बहादुरशाह, आप उपरोक्त कथन के अनुसार अपराधी हैं या नहीं? उत्तर आया—मैं अपराधी नहीं हूँ। और तब सभी साक्षियों को प्रस्तुत करने को कहा गया। मुकदमा चला। बादशाह को तो पहले ही बगावत के षड्यंत्र का दोषी मानकर अभियोग कायम किया गया था सो हर प्रकार की जिरह/बहस का नाटक कर बादशाह को बगावत के संगीन जुर्म का दोषी मानकर दंडित किया गया। अलबत्ता, दुनिया जहान के सामने यह दिखाने में कोई कमी नहीं छोड़ी गई कि अंग्रेज कौम निहायत ही न्यायप्रिय कौम है। हमारी वर्तमान न्यायपालिका का जो टेढ़ा, लंबा व गोलमोल तथा उबाऊ स्वरूप है वह उसी ब्रिटिश न्याय प्रणाली को प्रतिबिम्बित करता है।

अंततः अदालत, 9 मार्च 1858 को उन गवाहियों पर एकमत हुई जिन्होंने यह साबित करने में अदालत की मदद की कि बादशाह उन अभियोगों के अपराधी थे जो उन पर लगाए गए थे। जूरी ने भी उन्हें मंजूर किया और वे सिद्ध पाए गए। बादशाह को रंगून भेज दिया गया। जहाँ उनकी दुखद मृत्यु हो गई।

□□

सेण्ट्रल इंडिया में विद्रोह

मध्य भारत में भी ऐतिहासिक तथ्यों का पता लगाने, उन्हें संग्रहित करने के लिए 'राज्य इतिहास समिति' का गठन भारत सरकार द्वारा ही किया गया था। मध्य भारत के तत्कालीन शिक्षा मंत्री नरसिंहराव दीक्षित इसके अध्यक्ष थे। प्रो. वी. एन. लूनिया द्वारा संपादित पुस्तक 'मध्य भारत में 1857 स्वाधीनता संघर्ष-चरणों में' का प्रकाशन भी हुआ। हमने इस पुस्तक से भरपूर मदद ली है, अपने निष्कर्षों तक पहुँचने में हम स्वर्गीय प्रो. लूनिया के आभारी हैं।

अमझोरा के नरेश राजा बख्तावरसिंह जी, राघोगढ़ अंबापानी के प्रधान, सीतामऊ के भाई, जावरा नवाब और धार के प्राधिकारी आदि ने इस महासंग्राम में अपने-अपने तरीके से महत्वपूर्ण योगदान किया। इन्दौर के महाराजा स्वयं तुकोजीराव होलकर (दूसरे) ने इस लड़ाई को न केवल गुप्त समर्थन ही दिया बल्कि समय-समय पर लड़ाकों का उत्साहवर्द्धन भी किया। शहीद सआदत खाँ इन जांबाज लड़ाकों के नेता थे जिन्हें बाद में अंग्रेजों ने रेजीडेंसी के ही एक बटवृक्ष पर फाँसी दे दी थी। वहाँ आज भी उनके स्मारक पर फूल चढ़ाकर उन्हें याद किया जाता है। इसी प्रकार अमझोरा नरेश राजा बख्तावरसिंह जी को भी वर्तमान एम. वाय. परिसर में एक नीम के झाड़ पर, फाँसी पर लटका दिया गया था। उस स्थान पर उनकी प्रतिमा लगी है जिस पर पुष्प चढ़ाकर उन्हें भी कृतज्ञ समाज द्वारा याद किया जाता है। सर्वश्री भागीरथ सिलावट, हीरासिंह, वारिस मोहम्मद और शेख रहमान ने भी विद्रोहियों का नेतृत्व किया था।

3 जून 1857 के बाद विशेषकर जुलाई के प्रथम सप्ताह से यह संघर्ष योजनाबद्ध तरीके से लड़ा गया। शीघ्र ही यह लड़ाई तमाम सैन्य छावनियों तक फैल गई। ब्रिटिश अधिकारी मारे गए। हथियारों के जखीरे लूटे गए। कोषालयों पर कब्जा कर लिया गया तथा देशी सिपाहियों द्वारा ब्रिटिश ठिकानों को कड़ी टक्कर दी गई।

यहाँ भी यह कम उल्लेखनीय बात नहीं रही थी कि मुक्ति की कामना से लड़े जा रहे इस संग्राम में हमारे भील-भिलाले, भामर, बंजारे और नायक आदि ने सशस्त्र संघर्ष करके अपना महान योगदान किया था। विशेष कर निमाड़ क्षेत्र में। हम उन्हें सलाम भेजते हैं, प्रणाम करते हैं! नागरिक भी पीछे नहीं रहे। धन व साधनों की भरपूर मदद की। होलकर राजवंश की ओर से श्री हरि त्रंबक सदैव तत्पर रहते थे। उद्यत पाए जाते थे मदद के लिए।

दो बातें अत्यंत प्रशंसनीय रहीं। पहली देश की अंग्रेजी राज से मुक्ति हेतु बेमिसाल हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा दूसरी शहंशाह बहादुरशाह के प्रति निष्ठा। न केवल हमारे इलाकों में बल्कि संपूर्ण देश में ये उपलब्धियाँ बेमिसाल रहीं। शहंशाह ने मंदसौर में बीस हजार सिपाहियों की सेना गठित की थी जिसमें हिन्दू, मुस्लिम सभी समान जोश और उत्साह से एक साथ थे और देश के लिए मर मिटने को तैयार थे।

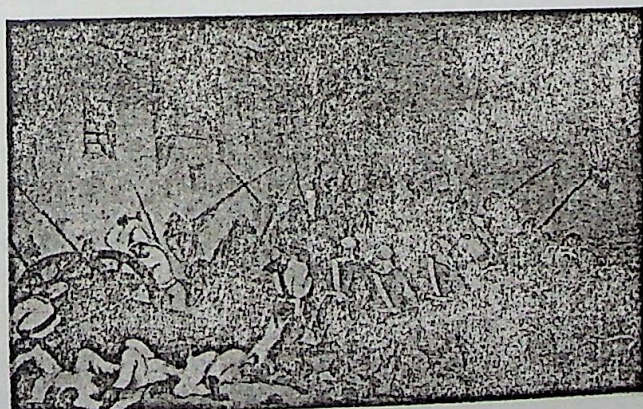
अमझेरा नरेश राजा बख्तावर सिंह जी ने जमादार अताउल्मोहम्मद को जरूरी विचार-विमर्श के लिए अमझेरा बुलाया था ताकि भोपावर और सरदारपुर की ब्रिटिश छावनियों के बारे में अगली रणनीति तय की जा सके। शहंशाह के प्रति न केवल निष्ठा ही व्यक्त की गई बल्कि उनकी सक्रिय सहायता हेतु कुछ लोगों ने दिल्ली प्रस्थान भी किया। जाहिर-सी बात है कि यह सैन्य अभियान भी सक्षम नेतृत्व की न्यूनता के कारण बँटा-बँटा सा रहा। लूट, आगजनी, फाँसी व हत्या जैसी वारदातें भी साथ-साथ होती रहीं। धार तथा गुराड़िया का उल्लेख मिसाल के तौर पर किया जाता रहा है और अंत भी आम परिणति से जुदा नहीं रहा। बॉम्बे से पहुँची सैनिक सहायता की मदद से लेफ्टिनेंट कर्नल डुरंड ने बर्बरतापूर्वक सारे अभियान को ही कुचल दिया। इस तरह एक बार फिर सेंट्रल इंडिया बरतानी एड़ियों के नीचे आ गया। विद्रोह विफल कर दिया गया।

सेंट्रल इंडिया एजेन्सी का मुख्यालय इन्दौर था। ब्रिटिश रेजिडेंट, जो कि यहाँ गवर्नर जनरल का प्रतिनिधि होता था के अधीन यह 'एजेन्सी' काम करती थी। सम्पूर्ण क्षेत्र के कामकाज पर उसका नियंत्रण होता था। 1857 में इस एजेन्सी के तहत बारह राज्य, जिनमें—इन्दौर, ग्वालियर, धार, देवास, रीवा, ओरछा, बड़वानी आदि शामिल थे—आते थे। 86,000 वर्गमील उसका क्षेत्रफल था और 80 लाख जनसंख्या सेंट्रल इंडिया एजेन्सी के अधिकार क्षेत्र में आती थी। इन सारे क्षेत्रों पर नियंत्रण व प्रशासन करने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने महु, नीमच, मुरार, सिहोर, आगर, महिदपुर, गुना, शिवपुरी आदि स्थानों पर सैनिक छावनियाँ बनाई थीं।

25 अप्रैल 1857 को एजीजी डुरंड को संदेश मिला कि बनारस स्थित 37वीं पैदल सेना के कुछ लोग रीवा पहुँचे हैं और रीवा में विद्रोह भड़क चुका है। मई

के दूसरे सप्ताह में महू छावनी के सिपाहियों ने रेजीडेंसी इन्दौर पर हमले की योजना बनाई। जिसमें यह भी तय हुआ कि इन्दौर स्थित होलकर सेना को भी अपने साथ मिला लिया जाए। 15 से 20 मई के बीच लगभग प्रतिदिन मुठभेड़ भी तय की जा चुकी थी किन्तु एन वक्त पर ब्रिटिश सैन्य सहायता के इन्दौर पहुँच जाने के परिणामस्वरूप योजना का क्रियान्वयन रोक दिया गया।

किन्तु नीमच में ऐसा नहीं हुआ। विद्रोही सिपाही न केवल एकत्रित ही हुए बल्कि उन्होंने गोलियाँ भी चलाई और 3 जून को रात्रि 9 बजे क्रांति का सूत्रपात आखिर हो ही गया। कंटोनमेंट के बंगलों में आग लगा दी गई और नीमच के किले पर विद्रोहियों का कब्जा हो गया। इसकी खबर जब मेवाड़ क्षेत्र के ब्रिटिश रेजिडेंट को हुई तो रेजीडेंट कर्नल सी. एल. शोवर कुछ राजपूत सैनिकों को साथ लेकर नीमच की ओर चढ़ आया। संघर्ष के बाद नीमच के किले को विद्रोहियों से मुक्त करा लिया गया। नीमच और नसीराबाद की सेनाएँ भी अक्सर अंग्रेजों हेतु संघर्ष को जाती थीं। जो सेनाएँ हमला करना जानती थीं जाहिर है उन्हें ही भेजा जाता था। नीमच की सेना जब आगरा पहुँची थी तब उसने शहर पर कब्जा ही कर लिया। अंग्रेज किले में छिप गए जिन्हें घेर लिया गया। तब यह जानकारी भी सामने आई थी कि सैनिकों के पास बड़ी तोपें नहीं थीं जिन्हें लेने वे दिल्ली जाने वाले थे ताकि किला जीत सकें। उन्होंने अपने अंग्रेज अफसरों को भी मार डाला था। तब बख्ताख़ाँ द्वारा नीमच की सेना के इस प्रयास की काफी प्रशंसा की गई थी। बादशाह ने भी उन्हें दिल्ली आ जाने का हुक्म लिखवाया था।



और अकेले नीमच में ही नहीं संपूर्ण मध्य भारत क्षेत्र पाटण, बूँदी, मंदसौर, देवलिया, प्रतापगढ़ सभी जगह सिपाहियों की गतिविधियाँ काफी प्रखर थीं। रामपुरा,

भानपुरा, पड़दा, मनासा, नारायणगढ़, जीरापुर, माचलपुर, सुनेल, कोटरी, रामपुर, महिदपुर, तराना, कायथा, साँवेर, इन्दौर, हासलपुर, देपालपुर, विजयगढ़, सेंधवा, नेमावर, काँटाफोड़, थाँदला, पेटलावद, चिकल्दा, सभी जगह सिपाहियों की गतिविधियाँ जारी थीं।

मजे की बात यह रही कि नीमच से कुछ ही दूर बसे निंबाहेड़ा कस्बे ने न केवल विद्रोही सैनिकों का उत्साहवर्द्धन ही किया बल्कि मनोबल भी बढ़ाया। उत्तर भारत के साथ कंपनी की संचार लाइन को बाधा पहुँचाई। निंबाहेड़ा की सहानुभूति क्रांतिकारियों के साथ थी। कर्नल सी. एल. शोवर को शायद इसीलिए निंबाहेड़ा पर हमला करना पड़ा था। मन्दसौर, महिदपुर व अन्य स्थानों के सिपाहियों के लिए नीमच का किला बेहतर शरण स्थल साबित हुआ।

14 जून 1857 को ग्वालियर की मुरार छावनी में रात को ठीक नौ बजे विद्रोह हो गया। ग्वालियर व शिवपुरी के बीच की तार लाइन काट दी गई। मुख्य सम्पर्क लाइन तथा आगरा बॉम्बे सड़क मार्ग को भी क्षति पहुँचाई गई। सिंधिया राज की राजधानी विद्रोही सिपाहियों के हाथों में चली गई अलबत्ता महाराजा की मदद से अंग्रेज अधिकारी, महिलाएँ, बच्चे सभी आगरा जाने में सफल हो गए।

20 जून को सिपाहियों ने शिवपुरी में विद्रोह कर दिया। ब्रिटिश अधिकारी गुना चले गए। जब गुना में विद्रोह हुआ तो केप्टन हरीसन गुना छोड़ इन्दौर के लिए रवाना हो गए किन्तु बीच में ही उन्हें आदेश मिला तथा वे अपनी सैन्य टुकड़ी सहित इन्दौर से 180 मील उत्तर में ब्यावरा में ही रुक गए। वहाँ से वे तार द्वारा उच्चाधिकारियों के सम्पर्क में बने रहे। इसी बीच बुंदेलखंड में हुए विद्रोह के भयावह पहलू सामने आए। इस विद्रोह की भयानक प्रतिक्रिया हुई। चिंगारियाँ दक्षिण मध्य भारत तक फैलीं।

उधर इन्दौर तथा महु (छावनी) से भी सैनिकों के विद्रोह के समाचार आए। यद्यपि जून महीने में ही यह बहुप्रतीक्षित विद्रोह फूट पड़ा। इन्दौर रेजीडेंसी को तहस-नहस कर दिया गया। महु में भी अशांति फैल गई। उपद्रव हो गए। इन्दौर तथा महु के बीच जानकारियों का आदान-प्रदान करते हुए एक जासूस कर्नल प्लॉट के हाथों गिरफ्तार हो गया। बाद में इसे एजीजी कर्नल डुरंड को सौंप दिया गया।

1 जुलाई 1857 को सुबह 8/8.30 बजे के बीच सआदत खाँ व भागीरथ सिलावट के नेतृत्व में होलकर सेना द्वारा इन्दौर रेजीडेंसी पर हमला बोल दिया गया। उन्हें महाराजा होलकर का समर्थन व प्रोत्साहन प्रच्छन्न रूप से प्राप्त था। महाराजा सामने आना नहीं चाहते थे। अनभिज्ञ बने रहकर ही वे विद्रोहियों की हर प्रकार से मदद कर रहे थे। शस्त्र, धन, रसद और सिपाही—सब कुछ। ऐसा करते हुए

उन्होंने घोषणा यह की थी कि सेना उनके नियंत्रण में नहीं रही। अर्थात् रिन्द के रिन्द रहे और हाथ से जन्नत भी न गई? रेजीडेंसी कोठी के सामने होलकर सेना तथा अंग्रेज सेना के बीच जोरदार मुकाबला हुआ। बरतानी अधिकारियों ने प्रतिकार की पूरी कोशिश की लेकिन सब व्यर्थ। बीस अंग्रेज अधिकारी मुकाबले में मारे गए। विद्रोही सिपाहियों के साथ सारा शहर ही अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। ब्रिटिश छावनी और कोषालय की वह लूट मची कि उससे सिपाहियों को तेरह लाख रुपयों की मदद हुई।

एजीजी कर्नल डुरंड ने अपने अन्य इंग्लिश साथियों के साथ इन्दौर छोड़ दिया और सीहोर कूच कर गए। औरतें, बच्चे सब उन्हीं के साथ चले गए। सीहोर में भोपाल की सिकंदर बेगम ने उनका साथ दिया। सिकंदर बेगम इससे पहले भी अंग्रेजों के हक में विद्रोह को दवा चुकी थीं। डुरंड सीहोर से होशंगाबाद चले गए। अगस्त में वे वापस महु लौट आए।

महु में पहली जुलाई की रात में विद्रोह फूट पड़ा था। अपने तीन ब्रिटिश अधिकारियों को मारकर विद्रोही सिपाही इन्दौर चले गए। जब रेजीडेंसी पर हमला हुआ महाराजा होलकर अपने महल में बैठे थे। खामोश! हमले से ठीक पहले उन्होंने विद्रोही सिपाहियों को रायफलें भेजी थीं। सआदत खाँ को उन्होंने सफल नेतृत्व के लिए बधाई भी दी थी। यही नहीं महाराजा ने उन्हें दिल्ली पहुँच कर, अन्य विद्रोही सैनिकों से मिलकर, महाविद्रोह में शामिल होकर बड़े फलक पर कार्य करने के लिए भी धन मुहैया कराया था।

महु, इन्दौर व नीमच में विद्रोह का समाचार जंगल की आग की तरह चारों ओर फैल चुका था। धार, अमझेरा, भोपावर, सरदारपुर में भी सिपाहियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध शस्त्र उठा लिए थे। वह संभवतः 2 या 3 जुलाई का दिन था जब अमझेरा नरेश राजा बख्तावरसिंह जी ने भोपावर स्थित ब्रिटिश छावनी पर हमला कर उसे नष्ट कर दिया था। यहाँ से भागकर अंग्रेज अधिकारी झाबुआ चले गए। वहाँ के राजपूत राजा के महल में उन्होंने शरण ली। राजपूत राजा झाबुआ विद्रोहियों के साथ नहीं थे। अमझेरा नरेश राजा बख्तावरसिंह जी को बगावत के जुर्म में गिरफ्तार कर उन्हें फाँसी पर चढ़ा दिया गया। धार के दीवान ने भी विद्रोहियों का समर्थन किया था। उन्होंने धार के किले में उनके अस्त्र-शस्त्र छिपाने में मदद की थी। जबकि सैन्य विन्यास में हिलोरेँ इन्दौर, महु व धार से ही उठी थीं। शाही मुगल फैमिली के शहजादे जब दिल्ली से मंदसौर आए थे तब यहाँ उन्होंने सिंधिया की एक सैन्य टुकड़ी को अपनी उपस्थिति से नवाजा था। मेवातियों और वलायतियों के साथ उन्होंने मिलकर अन्त में अपनी खुद की सैन्य टुकड़ी गठित की थी।

भानपुरा, पड़दा, मनासा, नारायणगढ़, जीरापुर, माचलपुर, सुनेल, कोटरी, रामपुर, महिदपुर, तराना, कायथा, साँवेर, इन्दौर, हासलपुर, देपालपुर, विजयगढ़, सेंधवा, नेमावर, काँटाफोड़, थाँदला, पेटलावद, चिकल्दा, सभी जगह सिपाहियों की गतिविधियाँ जारी थीं।

मजे की बात यह रही कि नीमच से कुछ ही दूर बसे निंबाहेड़ा कस्बे ने न केवल विद्रोही सैनिकों का उत्साहवर्द्धन ही किया बल्कि मनोबल भी बढ़ाया। उत्तर भारत के साथ कंपनी की संचार लाइन को बाधा पहुँचाई। निंबाहेड़ा की सहानुभूति क्रांतिकारियों के साथ थी। कर्नल सी. एल. शोवर को शायद इसीलिए निंबाहेड़ा पर हमला करना पड़ा था। मन्दसौर, महिदपुर व अन्य स्थानों के सिपाहियों के लिए नीमच का किला बेहतर शरण स्थल साबित हुआ।

14 जून 1857 को ग्वालियर की मुरार छावनी में रात को ठीक नौ बजे विद्रोह हो गया। ग्वालियर व शिवपुरी के बीच की तार लाइन काट दी गई। मुख्य सम्पर्क लाइन तथा आगरा बॉम्बे सड़क मार्ग को भी क्षति पहुँचाई गई। सिंधिया राज की राजधानी विद्रोही सिपाहियों के हाथों में चली गई अलबत्ता महाराजा की मदद से अंग्रेज अधिकारी, महिलाएँ, बच्चे सभी आगरा जाने में सफल हो गए।

20 जून को सिपाहियों ने शिवपुरी में विद्रोह कर दिया। ब्रिटिश अधिकारी गुना चले गए। जब गुना में विद्रोह हुआ तो केप्टन हरीसन गुना छोड़ इन्दौर के लिए रवाना हो गए किन्तु बीच में ही उन्हें आदेश मिला तथा वे अपनी सैन्य टुकड़ी सहित इन्दौर से 180 मील उत्तर में ब्यावरा में ही रुक गए। वहाँ से वे तार द्वारा उच्चाधिकारियों के सम्पर्क में बने रहे। इसी बीच बुंदेलखंड में हुए विद्रोह के भयावह पहलू सामने आए। इस विद्रोह की भयानक प्रतिक्रिया हुई। विंगारियाँ दक्षिण मध्य भारत तक फैलीं।

उधर इन्दौर तथा महु (छावनी) से भी सैनिकों के विद्रोह के समाचार आए। यद्यपि जून महीने में ही यह बहुप्रतीक्षित विद्रोह फूट पड़ा। इन्दौर रेजीडेंसी को तहस-नहस कर दिया गया। महु में भी अशांति फैल गई। उपद्रव हो गए। इन्दौर तथा महु के बीच जानकारियों का आदान-प्रदान करते हुए एक जासूस कर्नल प्लॉट के हाथों गिरफ्तार हो गया। बाद में इसे एजीजी कर्नल डुरंड को सौंप दिया गया।

1 जुलाई 1857 को सुबह 8/8.30 बजे के बीच सआदत खाँ व भागीरथ सिलावट के नेतृत्व में होलकर सेना द्वारा इन्दौर रेजीडेंसी पर हमला बोल दिया गया। उन्हें महाराजा होलकर का समर्थन व प्रोत्साहन प्रच्छन्न रूप से प्राप्त था। महाराजा सामने आना नहीं चाहते थे। अनभिज्ञ बने रहकर ही वे विद्रोहियों की हर प्रकार से मदद कर रहे थे। शस्त्र, धन, रसद और सिपाही—सब कुछ। ऐसा करते हुए

उन्होंने घोषणा यह की थी कि सेना उनके नियंत्रण में नहीं रही। अर्थात् रिन्द के रिन्द रहे और हाथ से जन्नत भी न गई? रेजीडेंसी कोठी के सामने होलकर सेना तथा अंग्रेज सेना के बीच जोरदार मुकाबला हुआ। बरतानी अधिकारियों ने प्रतिकार की पूरी कोशिश की लेकिन सब व्यर्थ। बीस अंग्रेज अधिकारी मुकाबले में मारे गए। विद्रोही सिपाहियों के साथ सारा शहर ही अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। ब्रिटिश छावनी और कोषालय की वह लूट मची कि उससे सिपाहियों को तेरह लाख रुपयों की मदद हुई।

एजीजी कर्नल डुरंड ने अपने अन्य इंग्लिश साथियों के साथ इन्दौर छोड़ दिया और सीहोर कूच कर गए। औरतें, बच्चे सब उन्हीं के साथ चले गए। सीहोर में भोपाल की सिकंदर बेगम ने उनका साथ दिया। सिकंदर बेगम इससे पहले भी अंग्रेजों के हक में विद्रोह को दबा चुकी थीं। डुरंड सीहोर से होशंगाबाद चले गए। अगस्त में वे वापस महु लौट आए।

महु में पहली जुलाई की रात में विद्रोह फूट पड़ा था। अपने तीन ब्रिटिश अधिकारियों को मारकर विद्रोही सिपाही इन्दौर चले गए। जब रेजीडेंसी पर हमला हुआ महाराजा होलकर अपने महल में बैठे थे। खामोश! हमले से ठीक पहले उन्होंने विद्रोही सिपाहियों को रायफलें भेजी थीं। सआदत खाँ को उन्होंने सफल नेतृत्व के लिए बधाई भी दी थी। यही नहीं महाराजा ने उन्हें दिल्ली पहुँच कर, अन्य विद्रोही सैनिकों से मिलकर, महाविद्रोह में शामिल होकर बड़े फलक पर कार्य करने के लिए भी धन मुहैया कराया था।

महु, इन्दौर व नीमच में विद्रोह का समाचार जंगल की आग की तरह चारों ओर फैल चुका था। धार, अमझेरा, भोपावर, सरदारपुर में भी सिपाहियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध शस्त्र उठा लिए थे। वह संभवतः 2 या 3 जुलाई का दिन था जब अमझेरा नरेश राजा बख्तावरसिंह जी ने भोपावर स्थित ब्रिटिश छावनी पर हमला कर उसे नष्ट कर दिया था। यहाँ से भागकर अंग्रेज अधिकारी झाबुआ चले गए। वहाँ के राजपूत राजा के महल में उन्होंने शरण ली। राजपूत राजा झाबुआ विद्रोहियों के साथ नहीं थे। अमझेरा नरेश राजा बख्तावरसिंह जी को बगावत के जुर्म में गिरफ्तार कर उन्हें फाँसी पर चढ़ा दिया गया। धार के दीवान ने भी विद्रोहियों का समर्थन किया था। उन्होंने धार के किले में उनके अस्त्र-शस्त्र छिपाने में मदद की थी। जबकि सैन्य विन्यास में हिलोरे इन्दौर, महु व धार से ही उठी थीं। शाही मुगल फैमिली के शहजादे जब दिल्ली से मंदसौर आए थे तब यहाँ उन्होंने सिंधिया की एक सैन्य टुकड़ी को अपनी उपस्थिति से नवाजा था। मेवातियों और बलायतियों के साथ उन्होंने मिलकर अन्त में अपनी खुद की सैन्य टुकड़ी गठित की थी।

बीस हजार लड़ाके इसमें शामिल थे। जिनके वे खुद मुख्तार थे। उन्होंने अपने आस-पड़ोस से जुटाया था जन और धन जिसके बिना ब्रिटिशर्स से टक्कर नहीं ली जा सकती थी। उन्होंने ही अपना एक सैन्य दस्ता वहाँ भेजकर किले को कब्जे में ले लिया था।

इन्हीं सब गतिविधियों के बीच बिठुर में नाना साहब द्वारा पेशवाई ग्रहण करने का समाचार मालवा पहुँचा। नाना साहब के कुछ प्रतिनिधि मालवा आए भी थे जहाँ उन्होंने मराठा राजधानी में अंग्रेजों के लिए कई मुसीबतें खड़ी कर दी थीं। फलतः सभी जगह राजद्रोह फैल गया निमाड़ में वलायतियों ने हथियार उठा लिए। मंडलेश्वर में भी अंग्रेजों को आघात लगा। सेंधवा, बड़वानी क्षेत्र में भीमा नायक के नेतृत्व में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह उठ खड़ा हुआ। बाद में भीमा नायक को गिरफ्तार कर आजम्म कारावास की सजा सुनाते हुए अंडमान की जेल भेज दिया गया। टंट्या भील आज भी इस क्रान्ति के जिन्दा मिथक बने हुए हैं। इस क्रांतिकारी चरित्र पर बाबा भांड एक वृहद उपन्यास भी लिख चुके हैं जिस पर एक 'शब्द-चित्र' भी लेखक ने तैयार किया है। [देखें अगला ही अध्याय]

4 जुलाई की दोपहर को आगर छावनी में सिपाहियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। कुछ बरतानी अधिकारी मारे गए। सिपाही मंदसौर कूच कर गए। भागे हुए अंग्रेज अधिकारियों ने कुछ दूध वालों से मदद प्राप्त कर सीहोर में शरण ली जहाँ सिकंदर बेगम उनका बहुत बड़ा आश्रय थीं।

8 नवंबर को महिदपुर में सिपाहियों ने छावनी पर धावा बोल दिया और आग लगा दी। अंग्रेजों ने मुकाबला किया और विद्रोह के प्रयासों को विफल करते हुए विद्रोही सिपाहियों के अस्त्र-शस्त्र अपने कब्जे में ले लिए। मंदसौर के रास्ते उनकी मुठभेड़ें अकसर होती रहीं। महिदपुर विद्रोह में एक अमीन (तहसीलदार) ने गजब की साहसी भूमिका निभाई। उसने विद्रोही सिपाहियों को मदद पहुँचाने के उद्देश्य से सिपाहियों की नयी भरती ही प्रारंभ कर दी। विद्रोह को सशक्त बनाया। किन्तु बाद में फाँसी पर लटक कर उसने इस सहायता की कीमत भी चुकाई।

गरज ये कि एकआध अवसर को छोड़कर सारा विद्रोह जून 1857 से सितम्बर 1857 के बीच अंग्रेजों के विरुद्ध फूट पड़ा था। सिपाही ब्रिटिशर्स के विरुद्ध लामबन्द हुए। कई अधिकारियों को मौत के घाट उतारा गया। उनके बंगलों में आग लगा दी गई। सम्पत्ति लूटी गई। शस्त्रों के जखीरे अपने कब्जे में लिए गए। बड़ी संख्या में विद्रोही सिपाहियों का मनोबल बढ़ाने सिपाही दिल्ली भी पहुँचे। कइयों ने धार व मंदसौर पहुँचकर भी अपनी सशरीर उपस्थिति से आंदोलन को ताकत पहुँचाई। अनेक जगहों के राजाओं, नवाबों, सामंतों तथा जनता ने मिलकर बड़े पैमाने पर इन विद्रोहियों को हर संभव सहायता प्रदान की।

ब्रिगेडियर स्टुवर्ट के नेतृत्व में एक भारी ब्रिटिश सेना जो विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित थी, को इन विद्रोहियों को कुचलने के लिए भेजा गया। महु पहुँचकर वर्षाकाल की बाधाओं के मद्देनजर यह सैन्य दस्ता थमा रहा। 22 अक्टूबर को इन्होंने धार के लिए मार्च किया। किले को मुक्त कराया। विद्रोहियों ने भी बहादुरी व समझदारी के साथ लड़ाई लड़ी। मंदसौर, जावरा तथा इन्दौर से विद्रोहियों ने मदद की गुहार लगाई किन्तु समय पर कोई सहायता कहीं से भी नहीं पहुँची। ब्रिटिश सेना के सामने विद्रोही सिपाही अलग-थलग पड़ गए। कइयों ने जान गँवाई तो कइयों ने मंदसौर जाकर सेना में शरण पाई।

परिणामस्वरूप धार रियासत अंग्रेजों द्वारा अनुबद्ध (जब्त) कर ली गई किन्तु कुछ ही समय बाद उसे वापस पवार राजघराने को लौटा दिया गया। धार के पतन के बाद अमझेरा की ओर रुख किया गया जिसे ब्रिटिश सेना ने बिना किसी विशेष प्रतिरोध के आसानी से प्राप्त कर लिया। यहाँ से भी अधिकांश सिपाही मंदसौर शहंशाह की फौज में जा चुके थे। 19 व 20 नवम्बर को स्टुवर्ट के नेतृत्व तथा डुरंड की सहायता से ब्रिटिश सेना ने चंबल पार की। ऐसा करते हुए 173 विद्रोहियों को बंदी बनाया गया। 23 नवम्बर को सेना मंदसौर पहुँची। मंदसौर से तीन मील दूर गुराड़िया में शहंशाह की फौज तथा ब्रिटिश सेना में पहली भिड़ंत हुई। दो दिनों तक घमासान युद्ध हुआ और शहंशाह की सेना की शिकस्त हुई। इससे विद्रोहियों के प्रयासों को गहरा धक्का पहुँचा। डुरंड मंदसौर पर पुनः कब्जा जमा पाने में सफल हो गया।

और तब, ब्रिटिश सेना ने उज्जैन होते हुए इन्दौर का रुख किया ताकि होलकरों की सेना को अपने आधिपत्य में लिया जा सके। 15 दिसम्बर को डुरंड इन्दौर पहुँचा। होलकर सेना को पहले निःशस्त्र व फिर हतोत्साहित भी किया गया। विद्रोहियों ने हथियार डाल दिए। 16 दिसम्बर 1857 को स्थायी एजीजी रॉबर्ट हेमिल्टन और सर ह्यूज रोज इन्दौर पहुँचे। हेमिल्टन ने डुरंड को कार्यमुक्त कर अपने पद का कार्यभार संभाला। ह्यूज रोज ने विंध्यप्रदेश, सागर और जबलपुर क्षेत्र में विद्रोहियों को दबाने हेतु प्रस्थान किया। जनवरी 1858 में महु के सफल ऑपरेशन के बाद सर ह्यूज रोज ने बुंदेलखण्ड तथा सागर में विद्रोही सिपाहियों के विरुद्ध जोरदार मुहिम छेड़ी। तात्या टोपे व महारानी लक्ष्मीबाई के साथ सर ह्यूज का भयंकर संग्राम हुआ। 22 मई को वे युद्ध जीत गए।

सर ह्यूज को जब इस आशंका ने धर दबोचा कि नाना साहब पेशवा अथवा महारानी लक्ष्मीबाई किसी के भी नेतृत्व में सशक्त मराठा राज्य का उदय हो सकता है तब सर ह्यूज ने ग्वालियर पर काबिज महारानी पर धावा बोल दिया। कड़ा संघर्ष होने के बाद महारानी ने 18 जून 1858 को अपने प्राण त्याग दिए। तात्या के

साथ राजपूत राजा मानसिंह के विश्वासघात व तात्या की फाँसी का वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। तात्या की फाँसी स्वाधीनता के इस महासमर की अंतिम आहुति थी।

1 नवम्बर 1858 भारत पर क्वीन विक्टोरिया का आधिपत्य घोषित कर दिया गया। कंपनी राज समाप्त। सामंतों के लिए अनेक रियायतें व प्रलोभन। उन्हें उनके सम्पत्ति व सम्मान की रक्षा का भरोसा दिलाया गया। यही तो वे चाहते भी थे। अवध के ताल्लुकेदारों, राजाओं, नवाबों, जमींदारों सभी ने हथियार डाल दिए। खुद को विद्रोह से अलग कर लिया।

केवल वे ही भूस्वामी जिन्हें क्षमा की कोई उम्मीद नहीं थी और जिन्होंने विद्रोह में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था लड़ते रहे। कब तक लड़ते? नाना साहब व अजीमुल्ला जंगल में मार दिए गए। बहादुरखान को ब्रिटिशर्स द्वारा फाँसी दे दी गई। विद्रोह कुचल दिया गया सारतः

- विद्रोही सिपाही मुख्यतः किसान, बुनकर, कारीगर, शिल्पी और ग्रामीण गरीब वर्ग से थे।
- उनमें स्वाधीनता का जज़्बा प्रबल था किन्तु वे रणनीति में पारंगत नहीं थे।
- न तो युद्ध कौशल उनके पास था न ही शस्त्र क्षमता मुकाबले लायक उनके पास थी।
- वे संगठित नहीं थे।
- न ही कोई समर्थ नेतृत्व न सक्षम रणनीतिकार उनकी पीठ पर था। जो थे भी तो वे बँटे-बँटे थे।
- विद्रोह के तीनों शक्ति केन्द्र अक्सर एक दूसरे से स्वतंत्र लड़ाई लड़ते रहे। सो अलग-थलग कर दिए गए।
- अंत तक कोई सर्वसम्मत रणनीति नहीं बन पाई।
- स्वयं किसानों के भी कई समूह इस स्वाधीनता संग्राम से कटे रहे।
- भू-स्वामियों के स्वार्थ के रहते इन संघर्षशील आदिवासियों-किसानों और ग्रामीण बुनकरों तथा कारीगरों में अन्त तक समन्वय स्थापित नहीं हो सका। परिणामतः हार हुई।

अच्छा ही हुआ जो विद्रोह विफल हो गया। यदि सफल हो जाता तो राजा-नवाब-सामंत तालुकेदार-जमींदार-जागीरदार आदि फिर अधिक मजबूती से काबिज हो जाते। 1947 में मिली स्वतंत्रता आगे बढ़ जाती। किन्तु इतिहास को शायद यह स्थगन स्वीकार नहीं था। सामंतों के साथ महारानी विक्टोरिया के शासन की जुगलबंदी स्वतंत्रता का स्वाद चखने को आतुर भारतवासियों को रास नहीं आई। बुरजुआ राजनीति के अंतर्विरोध भी सहयोगी सिद्ध हुए। ब्रिटिशर्स ने भी कई सुधार

किए। भू-स्वामियों को लेकर अधिक सतर्क नीति लाई गई। वास्तविकता तो यह है कि 1857 के बाद अंग्रेज अधिक सतर्क रहने लगे थे। इस विद्रोह के फलस्वरूप अंग्रेजों को भारत एक तरह से दुबारा जीतना पड़ा था। किंतु यह दूसरी विजय भारतीय जनमानस पर इंग्लैंड के आधिपत्य को बढ़ा न सकी। विभिन्न भारतीय जातियों की परस्पर फूट और जन सामान्य की गफलत ने ही अंग्रेजों को बचाया।

लार्ड कैनिंग ने अपने अधिकृत बयानों में स्वीकार किया है—अवध का संघर्ष वास्तविक अर्थों में ‘राष्ट्रीय जागरण’ था।

लॉर्ड सेल्सबरी ने हाउस ऑफ कॉमन्स में स्वीकारा था कि—‘इतना बड़ा राष्ट्रीय जागरण न तो किसी एक दिमाग की उपज था न मात्र चर्वी वाले कारतूस की देन। जागरण के लिए ‘ग्रुप ऑफ प्लानर्स’ था जो काम कर रहा था।’

इस राष्ट्रीय जागरण व सैन्य एकत्रीकरण के पीछे नाना साहब का दिमाग रहा होगा किन्तु इसका कोई युक्तियुक्त प्रमाण नहीं मिलता। इसी प्रकार इसका भी कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि विद्रोह पूर्व नियोजित था।

हालांकि कुछ इतिहासज्ञ अवध के वजीरअली नकवी खान को इसका जिम्मेदार ठहराते हैं जबकि वे न केवल कंपनी के अनुचर थे बल्कि कंपनी उन पर यकीन भी करती थी।

नाना साहब के विश्वस्त मुंशी अजीमुल्ला खान और रंगो बापूजी पर भी विद्रोह की योजना बनाने के आरोप लगते रहे हैं किन्तु कोई साक्ष्य नहीं मिलता जिससे यकीन हो सके।

यद्यपि बिठुर के अधिग्रहण के समय जरूर मुंशी अजीमुल्ला के पास कुछ कागजात पाए गए थे जिनसे यह प्रकट होता था कि उन्होंने टर्की के बागी उमर पाशा को यह संदेश भेजा था कि भारतीय सैनिक ब्रिटिशर्स से विद्रोह के लिए तैयार हैं किन्तु इस संदेश की क्रूर सच्चाई यह है कि यह भेजा ही नहीं जा सका था। पहले ही जब्त कर लिया गया था।

कंपनी के सौ वर्षों के लगातार शासन ने कंपनी को निरंकुश व स्वयंभू बना दिया था मनमाने जुल्म तथा अत्याचार पाशविकता की हदें पार कर गए थे। लूट, नरसंहार, आगजनी आए दिनों की आम घटनाएँ हो चली थीं। ऐसे में भारतवासियों के सब्र का बांध टूटना स्वाभाविक ही था। जो इस स्वतःस्फूर्त महाविद्रोह की शक्ति में फूटा।

यह पूर्व नियोजित, किसी शांति दिमाग की उपज भी नहीं था। जनता को जब कंपनी की दासता का यकीन हो चला तब गुस्सा फूट पड़ा।

और एक नजर 1857 के स्थायी परिणामों पर—(1) ब्रिटिश शासकों व आम भारतीयों के बीच की खाई और भी चौड़ी हो गई। (2) सेना में भारतीयों की संख्या

घटा दी गई। (3) यूरोपियों की संख्या बढ़ा दी गई। (4) यही नहीं सेना में अवध तथा बिहार के ब्राह्मणों और क्षत्रियों को कम कर सिखों व नेपालियों की संख्या बढ़ा दी गई। (5) तीनों प्रेसीडेंसी की सेनाओं को एक दूसरे से दूर रखा जाने लगा। (6) कहने को कंपनी राज का स्थान विक्टोरिया का राज ले चुका था किन्तु भारत तो पहले ही ब्रिटिश पूँजीपतियों का उपनिवेश बन चुका था। (7) सामंतों जमींदारों के प्रति ब्रिटिश शासकों की नीति में बुनियादी परिवर्तन आ गया था। (8) रियासतों व जमींदारों का छीना जाना बंद हो चुका था। (9) गोद के अधिकार लौटा दिए गए थे। अब वे ब्रिटिश शासन के स्तंभ थे। शासन में सलाहकार! (10) बनारस के राजा व पटियाला के महाराजा को इंडियन कौंसिल एक्ट पास कराकर 1861 में गवर्नर जनरल की कौंसिल में शरीक कर लिया गया। (11) भारत के बुर्जुआ वर्ग पर ब्रिटिश शासकों ने आक्रमण आरंभ कर दिए। 1860 में उन पर आयकर आयद किया गया। जैसे-जैसे ये आक्रमण तेज होते गए राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल व तेज होता गया। आमीन।

□□

लोक नायक : टट्ट्या!



लोक नायक : टट्ट्या!

एक 'इश्तिहार' से मैं अपनी बात शुरू करना चाहूँगा। हैमिल्टन ने डिप्टी इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस, ओ.एस.डी. (ऑपरेशन) टट्ट्या की हैसियत से यह इश्तिहार तैयार कराया था:

“वामुजिब हुक्म जनाब साहिब चीफ कमिश्नर बहादुर सी.पी.एंड बेरार जनाब साहिब चीफ कमिश्नर बहादुर को मालूम हुआ है कि जिला निमाड़ में ऐसे

1857 : इतिहास और साहित्य / 73

बहुत-से गाँव हैं जहाँ कि लोग टंट्या भील की गिरफ्तारी में पुलिस की मदद करने के बदले खुद उसी डाकू को खबर और मदद किया करते हैं। जनाब चीफ कमिश्नर बहादुर ने यह पक्का इरादा कर लिया है कि ऐसे कुल गाँवों में पुलिस तैनात की जाए और उसका खर्च मालगुजारों और गाँव के रहने वालों से वसूल किया जाए। मौजा पोखर पर 378 रुपया सालाना खर्च की पुलिस तैनात हो चुकी है। जो मालगुजार यह चाहते हैं कि उन पर पुलिस का खर्चा न लगाया जाए उनके लिए यह बेहतर होगा कि वे पुलिस को टंट्या के बारे में खबर देने का इंतजाम करें और जब टंट्या के आदमी आएँ उस वक्त उनको रोकेँ जिससे यह मालूम हो कि वे लोग टंट्या से मिले हैं या नहीं। गाँव पर हमला करने के वक्त अगर कोई शख्स टंट्या या उसके साथियों पर बन्दूक चलाएगा या उनको जख्मी करेगा तो उसे किसी किस्म की सजा नहीं दी जाएगी बल्कि टंट्या और उसके साथियों को पकड़ने के बदले में नीचे लिखे मुताबिक रु. 10,500/- तक का इनाम दिया जाएगा।

जो कोई टंट्या को पकड़ेगा उसे तीन हजार रुपया नकद इनाम दिया जाएगा और इसके अलावा मौजे नान्दगाँव, होशंगाबाद में एक हजार एकड़ जमीन की हकीयत मालगुजारी दी जाएगी।

जो कोई बोंदरिया को पकड़ेगा उसको तीन हजार रुपया नकद और चारहा में पाँच सौ एकड़ जमीन (जो आगे तजबीज की जाएगी) की हकीयत मालगुजारी दी जाएगी।

जो शख्स टंट्या के नीचे लिखे हुए किसी साथी को पकड़कर सरकार में हाजिर करेगा उसे हर साथी के पीछे पाँच सौ रुपए का इनाम दिया जाएगा।

1. देवल्या वल्द बांगा भील साकिन दाभी जिला निमाड़।
2. भावल्या वल्द उघड़्या भील साकिन टेंभी जिला निमाड़।
3. उंकार वल्द विट्ठल भील साकिन पोखर जिला निमाड़।
4. लछमन वल्द विट्ठल भील साकिन टेंभी जिला निमाड़।
5. भावल्या वल्द हीरा भील साकिन चिंचखेड़ा जिला निमाड़।
6. ठाकुर वल्द नारायण कुनबी साकिन टाकली जिला निमाड़।
7. उंकार वल्द बन्या भील साकिन चिंचखेड़ा जिला निमाड़।
8. फूलसिंग बंजारा साकिन माँजरादे जिला निमाड़।
9. रेंगू कोरकू साकिन सोनखेड़ी जिला होशंगाबाद।

यह भी जाहिर किया जाता है कि नीचे लिखे गुनहगारों के गुनाह माफ किए जाएँगे।

1. देवल्या वल्द बांगा
2. भावल्या वल्द उघड़्या
3. उंकार वल्द विट्ठल
4. लछमन वल्द विट्ठल
5. भावल्या वल्द हीरा और
6. रेंगू कोरकू।

ऊपर लिखी माफी इस शर्त पर दी जाएगी कि वह खुद सरकार में हाजिर होकर इस कदर हाल बतलाए कि ऊपर लिखे हुए इश्टिहारी गुनहगारों में से कोई दूसरा मुलजिम गिरतार होकर सजा पाए।

अगर कोई शख्स टंट्या को पकड़ेगा या पकड़ाएगा, नकदी रुपए के बदले में जमीन या माफी लेना पसंद करेगा तो जनाब साहिब चीफ कमिश्नर बहादुर उसे जमीन या माफी देंगे।

यह हुकुम पहले ही हो चुका है जो गौली या बंजारा टंट्या को पकड़ने में पुलिस की मदद करेगा या उसे पकड़कर लाएगा उसे पाँच हजार ढोरों के चरने की जगह दी जाएगी। यह भी मालूम रहे कि अगर कोई शख्स आज की तारीख से चार महीने के अंदर ऐसी खबर देगा कि जिससे टंट्या पकड़ा जा सके तो उसने इसके पहले टंट्या की मदद और पनाह देने या उसके बावद रपट न करने में कुछ कसूर किए होंगे तो वह सब माफ कर दिए जाएँगे।”

(चीफ कमिश्नर ने दस्तखत किए और तिथि लिखी 23-11-1885)

जाहिर है कि टंट्या और उसके जवाँमर्द साथियों ने अंग्रेज हुकूमत की नाक में दम कर दिया था। हुकूमत आजिज़ आ चुकी थी इन सूरमाओं से। स्वाधीनता की इस पहली लड़ाई को ‘गदर’ कहकर अपनी विफलताओं पर पर्दा डालकर पिंड छुड़ाने वाली इस बरतानी हुकूमत के लिए यह कतई नया नहीं था कि क्रांति का बीड़ा उठाने वालों को ‘डाकू’ का आरोप जड़कर बदनाम व लांछित किया जाए। कालांतर में हम देखते हैं कि ब्रिटिश इतिहासकारों ने तो महाराणा प्रताप, शिवाजी जैसे वीर योद्धाओं को भी गरियाया। शहीद-ए-आजम भगतसिंह व चन्द्रशेखर आजाद आदि क्रान्ति-वीरों ने तो ‘खजाने’ और ट्रेन तक लूटी थी, तो इसका यह मतलब तो कतई नहीं कि हम उन्हें डाकू मान लें? बोंदरिया मामूली इंसान नहीं थे। रेवापुरी के महाराज ही टंट्या से प्रेरित होकर बोंदरिया बने थे। क्रान्ति का बाना धारण किया था। कई संघर्ष किए थे।

रामनारायण जी, मंगल्या दादा व नारायण ठाकुर टंट्या के पथ प्रदर्शक थे। राष्ट्रीय आंदोलन से टंट्या को जोड़ने, लगातार समझाइश व सहयोग करते हुए टंट्या को मदद करने में इनका कोई सानी नहीं था। निहाल, गजा, उंकार, राघू, बलवन्त आदि टंट्या के ऐसे साथी थे जो टंट्या के एक इशारे पर अपनी जान छिड़कने को तैयार रहते थे। जनता टंट्या को प्यार करती थी। उस पर बलि-बलि जाती थी। अनेक सरकारी अधिकारी, कारिन्दे, मालगुजार, धर्मगुरु उसका खुला समर्थन अपनी जान पर खेलकर भी करते थे। वह पढ़ा-लिखा तो नहीं पर बुद्धि से क्षिप्र व दिमाग से तेज था। अन्याय, उसे किसी रूप में बर्दाश्त नहीं था। अर्थात् वह न्यायप्रिय भी था।

1857 : इतिहास और साहित्य / 75

निमाड़वासियों के लिए टंट्या वीर था। भील, कुनबी, कोरकू आदि वन जातियों के लिए उसका स्थान किसी 'वीर' से कम नहीं था। विद्वान समीक्षक तथा कवि श्री विष्णु खरे द्वारा लिखित इन पंक्तियों से भी कुछ इसी धारणा की पुष्टि होती है—“मुख्यारा-चलवाड़ा के घाट की चढ़ाई से पहले गाड़ी अचानक एक जगह रुकती थी जहाँ कोई फ्लैग स्टेशन तक नहीं था। तब हमें मालूम पड़ा कि यहाँ हर सवारी गाड़ी को रुक कर भीलों के किसी देवनुमा आराध्य टंट्या को सलामी देनी ही पड़ती थी, वरना उसकी आत्मा इस नास्तिक ड्राइवर या गार्ड की गाड़ी का एक्सीडेंट करवा ही देती थी।”

टंट्या अपने युग का वास्तविक लोकनायक था। लोग उसे पूजने लगे थे। शायद आज भी पूजते हों। उसे लेकर लोक गीत लोक कथाएँ चल पड़ी थीं ओझा लोगों ने 'मंत्र' बना लिए थे—

“बाँस खऽ कामठी बाँस खऽ तीरऽ
खाँडऽ राखेज, टंट्या वीरऽ
ले थारी कुकड़ी, ले थारी धारऽ
भगऽ जा भगऽ जा सात समुन्दर पारऽ
मानऽ मानऽ टंट्या देवत की आणऽ
नई तऽ लगज छाती मऽ बाण।”

यदि अंधविश्वास से भरी इन पंक्तियों के अर्थ को नजरअंदाज कर दें तो पंक्तियाँ राष्ट्रीय आंदोलन के संबंध में अत्यंत महत्वपूर्ण अर्थ खोलती हैं—

“टंट्या वीर बाँस के तीर कमान सदैव अपने काँधे पर धारण किये रहता है। उसे दारू या मुर्गा कोई प्रलोभन नहीं लुभा सकता। हे फिरंगी तू वापस सात समंदर पार चला जा तुझे टंट्या देवत की सौ अन्यथा छाती में बाण का लगना और तेरा काल कवलित होना तय है।” नर्मदा और ताप्ती नदियों की घाटी में बसा-निमाड़। अंग्रेजों ने साहूकारों और हाकिमों के बल पर निमाड़ का पूरा शोषण किया था। उनसे पहले पिंडारियों ने लूटा था और अब अंग्रेज तथा उनके साथी साहूकारों द्वारा शोषण जारी था। पटेल, पटवारी और मालगुजार भी इस लूट में शामिल हो गए थे। दरोगा और ब्राह्मण भी कोई मौका नहीं छोड़ते थे। ‘मुक्ति का द्वार’ खोलने का पूरा-पूरा मेहनताना वसूल करते थे। ब्राह्मण, तन पर तार तक नहीं रहने देते थे।

सतपुड़ा की पहाड़ियों में बसा है निमाड़। निमाड़ जिसका एक छोटा-सा गाँव है, बिरड़ा। सागी तथा सलई के घने जंगल और बेम्बली नदी की जलधार इस बिरड़ा गाँव को जीवन प्रदान करती थी। आसपास के अनगिनत छोटे बड़े झरनों ने बिरड़ा गाँव का सौन्दर्य बढ़ा दिया था।

गाँव में पटेल, राजपूतों और ठाकुरों के घर प्रमुख थे। कुछ घर बढ़ई, सुनार, नाई और बसोड़ के भी थे। नदी पार रहते थे केवट और भील। पटेल, राजपूत और

ठाकुर अमीर थे। पटेलों और राजपूतों के बीच सदैव टकराहट बनी रहती थी। जिसका फायदा ठाकुर उठाते थे। कभी इनके साथ तो कभी उनके साथ। भील, कुनबी, कोरकू व अन्य गरीब पटेल राजपूतों के खेतों पर 'सालदार' के रूप में काम किया करते थे।

नदी किनारे की ढालू जमीन पर भीलों की झोपड़ियाँ अर्ध गोलाकार बसी थीं। झोंपड़ियों के समीप थे मुर्गियों के दरबे। दरबों की मुर्गियाँ इन भीलों के लिए आजीविका का मुख्य जरिया थीं। इन्हीं झोंपड़ियों में एक झोंपड़ी भाऊसिंग भील की थी। तांत्या इसी भाऊसिंग का इकलौता बेटा था। जीवनी माँ थी तांत्या की। भाऊसिंग का बाप-पोखर गाँव में रहता था। जहाँ उसकी पुश्तैनी जमीन थी जरूर पर वह साहूकार के पास गिरवी पड़ी थी। बाप मर गया। भाऊसिंग तब से ही इधर-उधर भटकता फिर रहा था। इस गाँव से उस गाँव...कोई स्थायी डेरा नहीं।

जमींदार भीवा पटेल का पट्टेदार था भाऊसिंग। जमींदार पट्टेदार का पूरा-पूरा शोषण करता था। पट्टे की तयशुदा राशि आधे पौने दाम पर काश्तकार की फसल से वसूली जाती थी। तोल और मोल दोनों तरफ से उसे लूटा खसोटा जाता था। पाला पड़े या फसल गल जाए—यह वसूली अटल होती थी। इस पर दारू पीना, नशा पत्नी पर उतारना, खूब पीटना जैसे—पुरुष प्रधान समाज के विशेषाधिकार के रूप में आदमियों को मिला हुआ था। जुल्म के इसी ताने बाने ने तांत्या में बगावत के प्रारंभिक संस्कार भरे थे। विद्रोही होने की यह नितांत वैयक्तिक पृष्ठभूमि थी।

खेती भीलों का पारम्परिक व्यवसाय कभी नहीं रहा। वे तो जंगल के राजा हुआ करते थे। जंगल से ही उनका जीवन होता है जहाँ उनकी असमाप्त सत्ता सदा होती है।

तांत्या आसपास के हमउम्र बालकों का नायक बन गया। तीर चलाना, अचूक निशाना लगाना, भाला फेंकना और बिना किसी थकान के मीलों नंगे पैर शिकार के पीछे बेतहाशा दौड़ते रहने में पारंगत हो गया था, तांत्या!

एक दिन अनायास उत्सव की समाप्ति के पश्चात् भाऊसिंग अचानक हिंसक हो उठा। पूरे वहशीपन से अपनी घरवाली को पीटने लगा। वैसे तो ऐसा अक्सर होता रहता था पर आज कुछ ज्यादा ही हो गया था। केवल मउड़ी का कसूर नहीं था बल्कि दिन में भीवा पटेल के लात घूँसों से प्रताड़ित व अपमानित होने का दंश कुछ अधिक ही बर्बर होकर फुफकार उठा था। बेचारी जीवनी तो उस दंश का जहर पी रही थी। यहीं से तांत्या में विरोध का शुभारंभ होता है। माँ पर पिता का जुल्म बर्दाश्त नहीं कर सका। उसने, बाप के हाथ की लाठी को हवा में ही रोक लिया। तांत्या के किशोर मन में माँ को लेकर यदि फिक्र विद्यमान थी तो पिता के प्रति उसके दिल में नफरत का अंकुरण हो चुका था।

माँ चल बसी। तात्या धीरे-धीरे सारे जुल्म को न केवल सह रहा था बल्कि उस शोषण को समझ भी रहा था। उसमें दुर्दान्त, शक्ति का संचार होते चला गया। समय और संघर्ष ने उसे अतुल बलशाली बना दिया था जब तात्या ने बाप के गुस्से की तह में जाने की कोशिश की तो उसके दिल की नफरत धीरे-धीरे सहानुभूति में परिवर्तित होने लगी। पटेल, पटवारी, मालगुजार के कुचक्र में 'लगान' को लेकर लुटता पिटता, काश्तकार, बाप की तरह बेटा, बेटे की जगह पोता...शोषण का अंतहीन सिलसिला उसकी समझ में आने लगा था।

इसी दमन चक्र से हलकान तात्या का बाप भी जुल्मों की भेंट चढ़ गया। पर, मरते-मरते पोखर में अपनी गिरवी पड़ी पुश्तैनी जमीन का सुराग वह तात्या को दे गया। अन्ततः तात्या ने बिरडा से पोखर का रुख किया। नया ठिकाना था शिवबा का घर जहाँ उसके दादा की जमीन गिरवी थी और दादा पानी-पानी को तरसते मर गए थे।

“चारों ओर टोपी वाले गोरे साहबों ने खून खराबा शुरू कर दिया था। कहते हैं इन्दौर से होलकर का फतवा आया था। गोरे साहब ने पहले ही सारा मुल्क छीन लिया था। जंगल छीन लिया था, उसे बेचिराग कर रखा था।

पहले जंगल में अपना राज था। बरसों तक किसी ने जंगल को छुआ भी नहीं था। गोरा साहब आ गया और वेशुमार पेड़ कटने शुरू हो गए। बचे हुए पेड़ों को जलाया जाने लगा।

जंगल ही हमारा घर। जंगल को ही जला डालेंगे तो हम कहाँ जाएंगे?”

यह था वह केन्द्रीय-विचार जिसने इन भील युवकों को राष्ट्रप्रेम व क्रान्ति की भावना से भर दिया था। प्रेरित किया था।

क्रान्तिवीर हालिया भील के विचारों को देखें—ऐसा तो पहले कभी नहीं हुआ था सौ पाँच सौ बरसों में। राजपूत, मुसलमान हमारे दयालु माय-बाप जैसे थे। उनके जमाने में घास का तिनका भी नहीं टूटा। वैसे ही होलकर माँ-बाप सरकार ने जंगल के राजा को ऐसा दुख कभी नहीं दिया। लेकिन ये फिरंगी राजा सबको जलाए बगैर ठंडा नहीं होने वाला। तो भाई मेरे, जिन्दा रहना है तो इस आग में कूद पड़ो। इस आग से दूर-दूर भागोगे तो ये गोरे टोपवाले तुम्हें खरगोश के बच्चे की माफिक भून डालेंगे।

उधर खानदेश में अपने बहादुरों ने मजा चखाना शुरू कर दिया है। भीमा नाईक है सेन्धवा का बहादुर जवान। उसको कजारसिंग का साथ मिल गया। खानदेश की सड़क सेन्धवा की घाटी के ऊपर से जाती है। होलकर सरकार का बड़ा खजाना जा रहा था बम्बई गोरे साहब को। बहादुर कजारसिंग ने घाटी में ही झटका दिया। कहते हैं सात गाड़ी दौलत थी। कजारसिंग ठहरा कर्ण का औतार। सारा खजाना सतपुड़े की घाटी में गरीब गुरवा में बाँट दिया।”

नाक भौं मत सिकोड़िये। यदि वह डाका था तो वे क्रान्ति-पुत्र डाकू थे जिनके दिलों में मातृभूमि की मुक्ति की लौ धधक रही थी। हालिया से आगे का संबोधन 1857, the 1857 'हाट' बाजार में किया था—

“फिर खबर आई नरबदा मैया पार से झाँसी की रानी ने मराठा बहादुर को अपनी मदद के लिए भेज दिया है। ताँतिया टोपे आ रहे हैं—ताँतिया। धोली बादी घाटी की तरफ ताँतिया बहादुर ने दो दिन पहले ही सेन्धवा के पास के करगुन्द को लूट लिया।

ऐसी ही खबर है भागोजी बहादुर की। भागोजी का नाम सुनते ही साहब की चड़्डी पीली हो जाती है। असीरगढ़ में उसने ठेसन साहब को वहीं पर धमकाया। ऐसे थे देश प्रेम और मातृभूमि की स्वाधीनता के दीवाने। उस 'हाट' बाजार में हल्ला बोल हो गया।

तात्या, पिता के मरने के बाद अपने पिता समान अभिभावक मंगल्या के साथ अपनी पैतृक जमीन प्राप्त करने बिरडा से पोखर आ तो गया पर हाथ कुछ नहीं लगा। उल्टे अपनी पुश्तैनी जमीन से हाथ धोना पड़ा। शिवबा पटेल ने कोर्ट-कचहरी, पटवारी, तहसील से साँठ-गाँठ कर जमीन का बिक्री खत उसके दादाजी के जमाने से अपने नाम करा लिया। तोते उड़ चुके थे तात्या के हाथों से। हाथ कुछ नहीं आया उल्टे कानूनी दाव पेंच में उलझ गया। झगड़ा, सजा, जेल, इसी क्रम ने उसे जकड़ लिया। विपदाओं का अटूट ताँता।

किन्तु, यहीं से कुछ खास चीजें बदलीं। अपने टंटों के कारण ही तात्या, टंट्या कहलाने लगा। नए दोस्त बने। उनमें, शिवबा पटेल की बाल विधवा जसुदा भी थी। निहाल, उंकार, गजा और उनके जरिए खंडवे के वकील राजाभाऊ। कुछ देशप्रेमी—रेवापुरी के महाराज—जिन्होंने पहली बार टंट्या में सपने जगाए। तात्या तो अब टंट्या बन चुका था के दिल में विचार जागा—अपना इंसाफ तो अब हमें ही करना होगा।

बिलावजह, षड्यंत्रपूर्वक एक साल की जेल काटने पर तात्या को समझ में आया—कानून अन्धा होता है और वह हमेशा बड़ों का साथ देता है। जेल में उसका परिचय ठाकुर नारायण और रामनारायण जी से होता है जो आगे चलकर देश प्रेम, स्वाधीनता और समानता के भाव भरने में उसके मार्गदर्शक व मददगार साबित होते हैं। रेवापुरी के महाराज तो आगे चलकर बोंदरिया के नाम से उसके नेतृत्व में क्रान्तिकारी गतिविधियाँ संचालित करते हैं। रामनारायण जी असल में चेतना संपन्न जन शिक्षक थे। विश्वस्त साथी।

भिकी तात्या उर्फ टंट्या की पत्नी थी। उसे किसन्या नाम का एक बेटा भी था जिन्हें पोखर आने से पहले टंट्या ने अपने साले हरचन्द के पास भेज दिया था। जसुदा के दिल में टंट्या को लेकर अत्यंत प्यार व सम्मान के भाव थे। टंट्या

भी उसकी सदैव इज्जत करता था। लौकिक दृष्टि से कोई दैहिक संबंध उन दोनों के बीच कभी नहीं बना किन्तु आत्मीय रूप से वे कभी अलग हुए ही नहीं थे। लेकिन दुनियादारी ने उनके इस निश्छल व आत्मीय प्रेम को भी लांछित कर दिया। गाँव के आवारा शोहदों को जसुदा पास में नहीं फटकने देती थी इसलिए षड्यंत्र पूर्वक आरोप लगाकर पंचायत बैठाई गई। बात जुमाने पर समाप्त हो गई।

तात्या को यह सारा ड्रामा सहन नहीं हुआ। जिन लोगों ने यह षड्यंत्र रचा था तात्या ने उनसे बदला लिया। उन्हें दंडित किया। उसकी निगाहों में जसुदा के प्रति प्रेम और भी परवान चढ़ा। सम्मान बढ़ा। किन्तु गाँव छोड़ना पड़ा। बोरिया विस्तर, बीबी बच्चे व बाप समान मंगल्या दादा। पहुँच गए निहाल के मामा के गाँव हिरापुर। हिरापुर होलकरों की रियासत में पड़ता था जहाँ गोरों के विरुद्ध अभियान चलाकर देशप्रेमी, क्रान्तिकारी पनाह पाते थे। वहाँ उन्हें कोई खतरा नहीं होता था।

पहुँचते ही संघर्ष शुरू। हिरापुर के बाजार में निहाल के मामू की जुआर बिकने आई। तोल और तुलावटी की खोट पकड़ ली तात्या ने। तुलावटी बिजनिया, टंट्या की ताकत का लोहा मान गया और दोस्त बन गया। पर साहूकार से पेंच लड़ गए। हक की लड़ाई चालू। भुईफल वालों से बैर चला ही आ रहा था। गड़े मुर्दे उखड़ने लगे। इस बार खलनायक था हिम्मत पटेल। दरोगा से साँठगाँठ कर झूठे मुकदमें में लपेट लिया टंट्या को। इस बार तात्या के साथ बिजनिया भी मार-पीट के आरोप में जेल चले गए। पुलिस पर हाथ उठाना कहाँ की हिम्मत थी?

खण्डवा जेल की बैरक में टंट्या का सामना वहाँ के सुंड मुसंड दादा दौल्या से हुआ। दौल्या ने पहले तो अपना रुआब जमाने के लिए टंट्या को पीटा पर जब टंट्या ने पलटवार किया तो दौल्या ने दोस्ती का हाथ बढ़ा दिया। दोनों में दोस्ती हो गई। बिजनिया तो पहले ही जबलपुर ट्रांसफर कर दिया गया था। इस जेल यात्रा की उपलब्धि कहे तो टंट्या पर जान निछावर करने वाले दो शक्तिशाली दोस्तों बिजनिया व दौल्या का मिलना था। तात्या से टंट्या नाम यहीं खंडवा जेल में पड़ा था।

टंट्या सोचता था- गोरों का मुल्क (जिला निमाड़) छोड़कर और किसी गाँव में बस्ती करेंगे। इन पुलिस वालों की परेशानी से बचने के लिए उधर होलकरों के मुल्क में जाना ठीक रहेगा। ये बड़े लोग हमें निचोड़े बगैर नहीं छोड़ेंगे और उनकी बात नहीं मानी तो साहब के कुते हमारे पीछे पड़ने को तैयार हैं। पहले से ही इन भेड़ियों ने गरीबों को बेजार कर दिया है और अब जंगल में रहने वाले हमारे भाइयों को घर (अर्थात्-जंगल) से बेदखल करने लगे हैं। साहब ने जंगल की लकड़ी जलावन लेने से जंगल के लोगों को मना कर दिया था। क्या यह दर्द गोरों के जुल्म और गुलामी की पीड़ा

से उद्भूत नहीं लगता? राष्ट्र और कौम के प्रति चिन्ता और किस तरह व्यक्त होती है।

पहले बिजनिया और बाद में टंट्या द्वारा पुलिस की सरे बाजार पिटाई ने तत्कालीन प्रशासन को जहाँ अपनी कार्यप्रणाली पर सोच विचार के लिए मजबूर किया वहीं टंट्या और उसके साथियों ने भी अपनी रणनीति बदली। अब वे छापामार खेलने लगे। सामने आना बंद कर दिया। कार्रवाई निमाड़ में अंजाम देते और जाकर होलकर राज्य की सीमा में छिप जाते। रूप बदलने में भी टंट्या को गजब की महारत हासिल थी। पुलिस की आँखों में धूल झाँककर निकल जाना उसके बाँए हाथ की बात थी।

नवगजाबाबा, शिव बाबा टंट्या की आस्था के गहरे केन्द्र थे। खूब भरोसा करता था। जसुदा ने तो नवगजाबाबा का ताबीज मंतरा कर उसे दे रखा था इस विश्वास के साथ कि जब तक ताबीज उसके साथ रहेगा उसका बाल भी बाँका नहीं होगा। और हुआ भी ऐसा ही था कि जब उसे धोखे से घेरकर मारा गया- ताबीज पहले ही वह अपनी मुँहबोली बहन को दे चुका था। क्यों न हो क्रांतिकारी साहसी, दृढ़ प्रतिज्ञ और वीर होने के बावजूद टंट्या था तो साधारण इंसान ही। हालाँकि जनता हर कदम पर उसके व उसके साथियों के साथ थी।

घाटाखेड़ी रियासत के (राजा) ठाकुर तखतसिंग भी टंट्या के हमदर्द व आश्रयदाता थे। देश प्रेमियों का, देश के लिए लड़ने वालों का वे साथ देते थे। समर्थन करते थे। सभी उन्हें प्यार व सम्मान से महाराज ही कहते थे। घाटाखेड़ी रियासत होलकर व अंग्रजों के बीच थी। रियासत के 70 गाँवों में से चालीस गाँव फिरंगियों ने कम कर दिए थे। इसलिए भी तखतसिंग महाराज के दिल में फिरंगियों को लेकर गुस्सा था।

टंट्या के साथियों में रामनारायण जी सबसे प्रखर, तर्कशील व समझदार व्यक्ति थे। एक अवसर पर वे नब्ब टटोलते हुए प्रश्न करते हैं—यह जंगल किसका है?

दौल्या सहज उत्तर देता है—अपना।

और तब टंट्या समझाता है—नहीं दौल्या, अब जंगल अपना नहीं रहा। साहब ने हुकुम किया है। जंगल का मालिक अब साहब बन गया है। जंगल के पेड़ साहब के हो गए हैं। अब हम एक डाली भी काट नहीं सकते। काटेंगे तो गुनाह होगा और जेल की हवा खानी पड़ेगी।

“हम रहेंगे कहाँ? खाएँगे क्या?”

प्रश्नों का भी टंट्या उसी गंभीरता से उत्तर देता है—“अपना घरबार उजाड़ने का ही इरादा है इस सरकार का।

टंट्या का नेतृत्व धीरे-धीरे पापुलर होता गया था वे भले जेल में बंद रहे, बाहर भील लामबंद होने लगे थे। इस लामबंद होने से पुलिस प्रशासन चौकन्ना भले ही हो गया था, जेल से दौल्या, बिजनिया, भावल्या, हीरा के साथ टंट्या को भागने से रोक नहीं सका। डंके की चोट पर, घोषणा करके अपने साथियों सहित जेल

से फरार हुआ था टंट्या। फिर धन और हथियार जुटाए। संघर्ष और भी तीव्र हुआ। टंट्या को सभी का समर्थन मिलता गया।

जेल से भागने के बाद टंट्या और उसके साथी जंगल-जंगल भटक रहे थे। कहीं ठौर नहीं। दो माह से अधिक समय बीत गया। यहाँ हम टंट्या द्वारा निमाड़ सरकार को लिखाया एक पत्र उद्धृत करना चाहते हैं। टंट्या बोलता गया और जिसे ठाकुर नारायण ने लिखा था। देखें—

॥ श्री शिवबाबा प्रसन्न ॥

मे. हुजूर जनाब डिप्टी कमिश्नर साहब

निमाड़ इलाका

खंडवा

अर्जदार टंट्या वल्द भावसिंग भील साकिन पोखर, जिला निमाड़, सरकार के कदमों में अर्जी पेश करता हूँ कि सरकार हम गरीबों की जान की दुश्मन हो गई है। जंगल के लोगों को बाहर खदेड़ देने का सरकार का इरादा अच्छा नहीं है। अब तक किसी भी माय-बाप सरकार ने हम पहाड़ों में बसने वालों को हाथ नहीं लगाया था न उन्हें कोई तकलीफ दी थी। होलकर सरकार, असीरगढ़, बुरहानपुर सरकार और दूसरी रियासतों ने जंगल के लोगों को संभाला। फिर गोरी सरकार ही हमें क्यों सता रही है? अब तक पटेल, पटवारी, साहूकारों ने हमें निचोड़ा, लूटा लेकिन मुसीबतों के वक्त काम भी आते रहे। लेकिन अब आपके हुकुम से इन्होंने ज्यादा जुल्म शुरू किया है। इसीलिए टंट्या की आपसे दरखास्त है।

माय-बाप सरकार ने नहीं मानी बात तो निमाड़ की पहाड़ी और जंगलों में रहने वाले लोग तुम्हें मजा चखाए बिना नहीं रहेंगे। इससे होने वाली बातों की जिम्मेदारी आपकी होगी। इसीलिए यह अर्जी सरकार के कदमों में पेश कर रहा हूँ।

अर्जदार टंट्या वल्द भावसिंग भील जंगल का राजा हाल मुकाम सीवना

निशानी अँगूठा

दस्तखत खुद नारायण ठाकुर।

लिखित अल्टीमेटम की भाषा इससे अलग क्या होती होगी? विषय का दो टूक खुलासा दर्शाता है कि टंट्या और उसके क्रांतिकारी साथियों के सामने लक्ष्य विल्कुल स्पष्ट था। कोई भ्रम नहीं, कोई भटकाव नहीं।

इसी बीच सेंट्रल प्राविंस की गजट में एक चौंकाने वाला मजमून छपा था। फरवरी 1879 के गजट में ज्युडिशियल डिपार्टमेंट की ओर से छपे इस नोटिफिकेशंस 82 / 1857 : इतिहास और साहित्य

में लिखा था—“सूचना-पत्र में पुरस्कार ऑफर किया गया था टंट्या की गिरफ्तारी को लेकर। टंट्या भील कुछ आरोप में खंडवा जेल में कैद था जो फरार हो गया है। पता चला है कि आजकल वह चोरियाँ करता हुआ भटक रहा है। इस नोटिस के एक महीने के अंदर इस आदमी को इलाके में जो कोई पकड़वा देगा उसे 300 रुपए और दो महीने के भीतर पकड़वा देगा तो 200 रुपए इनाम दिए जाएँगे। जो कोई इनाम चाहता है वह मुल्की फौज या मुख्तार मुल्की फौज या नीचे दस्तखत करने वाले के सामने हाजिर हो।”

मुख्तार न्याय विभाग

जब हिरापुर के बाजार में यह खबर फैली कि कोई साहब ने मिशनरियों की मदद से गरीबों को मुफ्त में दवा देना शुरू किया है। वो लोगों की कुरकुरमावी बनाकर सात समुन्दर पार ले जाएँगे।...आदि। इतिहास को बेहतर समझने वाले जानते हैं कि गोरे फिरंगियों के राज में इसाई मिशनरियों को धर्मांतरण हेतु साम-दाम-दण्ड-भेद की पूरी छूट थी। जिसके प्रति भी क्रान्तिकारी न केवल सतर्क थे बल्कि रोकथाम के समानान्तर व सामूहिक प्रयास भी कर रहे थे। टंट्या ने ठाकुर नारायण व रामनारायण जी जैसे विश्वस्त साथियों के माध्यम से लूट से प्राप्त राशि को जरूरतमंदों की मदद में लगाना शुरू किया था ताकि वे सूदखोर साहूकारों और प्रलोभन बाँटती मिशनरियों के शिकंजे से मुक्त व आत्मनिर्भर हो सकें।

कानून व पुलिस की धाक को टंट्या ने मिट्टी में मिला दिया था। तत्कालीन पुलिस अधीक्षक ने टंट्या के उधम से परेशान होकर रिपोर्ट लिखी—

“अब टंट्या और उसके साथी अपने आपको आजाद समझने लगे हैं। गाँवों में झगड़ा मोल लेते हैं। किसी भी सरकारी हाकिम को नहीं मानते। राष्ट्रीय चेतना बढ़ती जा रही है। साहूकार, बनिए और मालगुजारों की गुलामी से मुक्त होने की उम्मीद जाग उठी है। टंट्या की इधर की कामयाबी से उसकी और उसके साथियों की हिम्मत बढ़ गई है उसने अपने आपको राजा घोषित किया है। टंट्या जहाँ भी जाता है उसे राजा का सम्मान दिया जाता है।

“हमारे ध्यान में है कि डाकुओं के नायकों को पकड़ना मुश्किल हो गया है। चिन्ता की बात है कि पुलिस को जनता का साथ नहीं मिलता, बल्कि छिपे तौर पर विरोध ही होता है।

“टंट्या ने भीलों के जासूसों का संगठित जाल बुना है। टंट्या हर एक मालगुजार को धमकी भरा इशारा करता है। जो कोई मालगुजार पुलिस या सरकार के किसी भी अधिकारी को डाकुओं की हलचल के बारे में सुराग देगा उन पर टंट्या के लोगों की कड़ी नजर होगी। टंट्या के पास ऐसी खबरें तुरंत पहुँच जाती हैं। परिणामस्वरूप

टंट्या के डर से कोई भी जानकारी देने सामने नहीं आता। पुलिस को चकमा देकर टंट्या का उधम मचाना जारी है।”

सुपरिंटेंडेंट ऑफ पुलिस की, टंट्या को लेकर कुछ बातें बहुत स्पष्ट हो जाती हैं। यथा—टंट्या व उसके साथियों की गतिविधियों से ‘राष्ट्रीय चेतना’ को बढ़ावा मिल रहा था। जनता में साहूकार, बनिए, मालगुजारों की गुलामी से मुक्त होने की भावना प्रबल हुई थी। उन्हें मिल रही कामयाबी से उनके होंसले बुलंद थे। टंट्या जहाँ भी जाता उसे राजा का (न सही) सम्मान मिलता था। जनता में टंट्या व उसके साथियों की लोकप्रियता का आलम यह था कि गोरे साहबों, पुलिस व प्रशासन की तुलना में जनता न केवल उन्हें पसंद करती थी, सहयोग देती थी बल्कि उन्हें संरक्षण भी प्रदान करती थी और जनता का यह रुख ही पुलिस अधीक्षक की परेशानी का सबब बनकर रिपोर्ट में मूर्त हुआ था। टंट्या व उसके साथी जनता में अत्यंत लोकप्रिय थे। ‘राबिनहुड’ की छवि जनता में टंट्या की बनती जा रही थी।

टंट्या की जीवन गाथा में अनेक भावना प्रधान एवं मार्मिक प्रसंग भी आते हैं। यह देखने व पढ़ने को भी मिलता है कि कैसे धर्म व राष्ट्रीय आन्दोलन एकमेक होते जा रहे थे। महाभारत का उपदेश सुनाते हुए धूनी बाबा श्रोताओं का आह्वान करते हैं “जब भी समाज को ग्लानि आ जाती है, लोग पस्त हो जाते हैं, तब हम में से ही कोई एक अर्जुन बन जाता है। कौरवों के अन्याय अत्याचार को रौंद डालता है। हमें अर्जुन का साथ देना चाहिए।”

लेकिन टंट्या भावुक होते हुए भी कभी तर्क का साथ नहीं छोड़ता था। दौलिया जब जोश में भर कर खंडवा जा के साहब को मार डालने की बात कहता है तब एक परिपक्व राजनेता की तरह टंट्या स्वयं को पेश करता है—नहीं दौलिया, एक साहब को मारने से कुछ नहीं होगा। हमने जो काम शुरू किया है वही ठीक है। गोरे साहब के खिलाफ हम पाँच पचास लोग ही लड़ रहे हैं। लेकिन अब धीरे-धीरे इस इलाके की जनता हमारा साथ देने लगी है। वह बढ़ जाएगी तो साहब के लिए मुश्किल होगी। अपने साथ लोगों को लिए बगैर काम करना ठीक नहीं होगा।

टंट्या को अपनी बढ़ती हुई ताकत का अन्दाजा लग गया था। जहाँ भी जाता भील, कोरकू, रामोशी, निहाल आदि उसके पास आ जाते थे। अब गाँव के आम आदमी का समर्थन भी मिलने लगा था। टंट्या सिर्फ उन मालगुजारों व पटेलों के खिलाफ था जो गरीबों को सताते थे। जिनके बारे में शिकायतें नहीं थीं ऐसे पटेल मालगुजार छिपे तौर पर टंट्या को समर्थन देने लगे थे। वह इलाके में ‘निराले डाकू’ के रूप में देखा जाने लगा था। आम जनता उससे खुश थी।

टंट्या, दरअसल गरीबों को लूटने वाले साहूकारों, मालगुजारों के खिलाफ था। उनको बचाने वाली गोरी सरकार के खिलाफ था। कम से कम टंट्या के संपर्क में आए बलवन्त नरहरि काले की राय तो यही थी।

23 जून 1880 को बरूड़ गाँव में घटी एक घटना ने सहायक पुलिस अधीक्षक स्क्रिप्टन को हैरत में डाल दिया। जिन मालगुजारों-पटेलों पर मुखबिरी का शक था, टंट्या-विजिनिया-दौल्या ने उनके घरों में आग लगा दी और चलते बने। बारह सौ की बस्ती में से कोई भी हाथ उनके खिलाफ नहीं उठा। विनाश का काम, चुनौती देते हुए/नाम बताकर बहुत ही इत्मीनान से इन तीनों ने अंजाम दिया था। मजा तो यह था कि जिनकी हानि हुई थी उन्होंने भी कहा—वे गुनाहगारों को नहीं जानते। पुलिस को, घटना होने के बाद पर्याप्त देरी से सूचना दी जाती थी। यह ट्रेंड ही बन गया था।

घाटाखेड़ी के ठाकुर, महाराज तखतसिंग से जब टंट्या अपने साथियों सहित मिला तब महाराज का कनफेशन काबिले गौर था—तुम्हारे आने की ओर गाँव के लोग आँख लगाए बैठे हैं। तुमने जो दीन दलितों की मदद की है वैसा करने की बात हमारे मन में कभी आई ही नहीं। यह राजा का लबादा ओढ़ लिया और हम जनता से दूर होते गए...यह पाप स्वीकार नहीं तो और क्या था?

मि. नेलर, अंग्रेज अफसर थे। उन्होंने आई जी पुलिस को चिट्ठी लिखी जिसमें टंट्या को रोकने के लिए कुछ उपाय सुझाए—जिस गाँव में डाके पड़े, लूट मार हुई वहाँ अलग पुलिस थाने बनवाए जाएँ तथा इस खर्च को गाँव से दंड के रूप में वसूल किया जाए। जिन गाँवों के मालगुजार या लोग टंट्या की मदद करते हैं, उन गाँवों को भी सामूहिक दंड दिया जाए। ग्राम सुरक्षा दलों की स्थापना की जाए। इनमें सरकार की सहायता करने वाले विश्वसनीय लोगों की भर्ती की जाए। उन्हें बन्दूकों और अन्य हथियार मुहैया किए जाएँ। योजना को तो तुरंत मंजूरी मिल गई किन्तु वह बहुत दूर तक कारगर व प्रभावी नहीं रही। कारण रहा जनता की सहानुभूति टंट्या के साथ थी। वह उसे अपना सच्चा नायक मानती थी।

26 अप्रैल 1885—हैमिल्टन साहब काम पर आए खंडवा में तो मीटिंग बुला ली। बोले—“...चारवा ट्रेक जहाँ टंट्या रहता है, उसके लिए स्पेशल फोर्स मंजूर हो गया हाय। एक चीफ कांस्टेबल, पाँच हैड कांस्टेबल, एक लांस कांस्टेबल और बटिस कांस्टेबल होंगे।

आज से ‘टंट्या पुलिस फोर्स’ नाम से एक खास फोर्स शुरू किया जा रहा हाय। एक चीफ कांस्टेबल, छह हैड कांस्टेबल और एक सौ तीस कांस्टेबल होंगे। इसमें घुड़सवार भी होंगे।

अपना रेगुलर पुलिस फोर्स हाय। उसको ये फोर्स मदद करेगा। कंट्रोल के वास्ते आईजीपी ने मोरटक्का, पन्धाना, बुरहानपुर, पिपलौद वगैरा चार विभाग मंजूर किया हाय।

इसके साथ नर्मदा विभाग का जो मालगुजार सरकार को मदद करता हाय उनको ऑनररी मैजिस्ट्रेट बनाया जाएगा। ऐसे एक सौ दस ऑनररी मैजिस्ट्रेटों को बंदूकें दी जाएंगी।

मुझे यकीन है कि इस कार्रवाई से टंट्या ऑपरेशन में हम कामयाब होंगे।...”

किन्तु हैमिल्टन साहब की इस नई व्यवस्था ‘ऑपरेशन-टंट्या’ तथा ग्राम सुरक्षा समितियों को टंट्या व उसके साथियों ने दूसरे ही दिन धूल चटा दी। फिर तो एक महीने तक टंट्या और उसके साथियों का यही अभियान अलग-अलग स्थानों पर निरंतर चलता रहा। निमाड़खेड़ी, बोरगाँव, पन्धाना, शाहपुर, खालवा, एलिचपुर, बरार...। टंट्या की धूमधाम से हैमिल्टन साहब की नाक में दम आ गया।

खंडवा जेल से टंट्या को भागे सात साल बीत गए तब से वह पुलिस के लिए एक जीवित किवंदती बना घूम रहा है और पुलिस उसे पकड़ नहीं पा रही है यही हैमिल्टन साहब की परेशानी का सबसे बड़ा कारण बना हुआ था। टंट्या ऐलान कर के किसी भी गाँव में जाता था। मालगुजारों-बनियों-साहूकारों को लूटता और चला जाता। कभी-कभी हैमिल्टन साहब को शक होता—कहीं हमारी पुलिस टंट्या की फौज तो नहीं बनी है? उसने दमन चक्र को और कड़ा किया। जाल को और भी मजबूत गुँथा।

इंस्पेक्टर रतनसिंह और इंस्पेक्टर इस्माइल ने व्यापारियों का भेष बदलकर टंट्या के बारे में तथ्य जुटाने और सबूत इकट्ठा करने के उद्देश्य से ग्रामीण अंचलों का दौरा किया। आईजीपी को प्रेषित रिपोर्ट काफी चौंकाने वाली थी।

“हमने बेपारी का भेष बनाकर दिसंबर के माह में होशंगाबाद, बैतूल, खंडवा, खरगोन से होते हुए इन्दौर तक सफर किया। गाँव-गाँव में जाकर टंट्या के बारे में लोगों से बातें कीं। पुलिस से भी मिले। जंगलों, पहाड़ों, घाटियों के भील कोरकू और किसानों पर टंट्या की अतिमानुषी शक्ति का बड़ा प्रभाव है। इसलिए इस क्षेत्र के लोग सरकार की मदद करने के लिए बिल्कुल ही तैयार नहीं हैं।

“टंट्या का इन लोगों पर एक तरह से अधिराज्य ही है। गरीबों की वह दिल खोलकर मदद करता है। इसलिए उन्हें वह अपना दोस्त और तारनहार लगता है। थोड़ी-सी मदद करने वालों को भी उदारता से पैसे देता है। छोटे बच्चों और महिलाओं के साथ उसका बर्ताव बहुत शालीन है। सब माँ-बहनों को वह अपना भाई ही लगता है। उसकी जनप्रियता देखकर हम तो दंग रह गए। टिड्डी दल के हमले

से हुई हानि की उसने स्वयं क्षतिपूर्ति कर दी। वह अद्भुत है। उसके दुस्साहसों में यहाँ के बंजारों, कोरकुओं और भीलों का खुल्लमखुल्ला साथ उसे मिल रहा है। निःसन्देह वह इस क्षेत्र का सर्वाधिकारी है।

“जंगलों में तम्बू तानकर वह अधिकारियों का स्वांग रचता है और बंजारों के नाच में हिस्सा लेकर उनके साथ नाचता भी है। उसकी यह कला दुनिया से न्यारी है।” वह, इस रिपोर्ट के अनुसार सच्चे अर्थों में ‘जन-नायक’ था।

किसनिया के ब्याह का मंडवा सिवना के माधवराव पाटिल के खेत में छाया था। टंट्या का बेटा था किसनिया। सो पुलिस को यह पक्का यकीन हो चला था कि इस अवसर पर टंट्या जरूर आएगा। पुलिस ने मोर्चाबन्दी कर ली थी। पत्नी भिकी बड़ी ही व्याकुल थी। मंगल्या दादा उसे दिलासा दे रहा था। भिकी की व्याकुलता का कारण यह भी था कि वादा करने के बावजूद जसुदा भी अब तक नहीं पहुँची थी। अलबत्ता उसने गजरी के साथ गहना भेज दिया था।...कि, जसुदा की बैलगाड़ी, गजरी बुआ को लिए हुए प्रवेश करती है। पुलिस पूछताछ के बाद गाड़ी को जाने देती है। टंट्या के प्रति जसुदा के सामने अपना आदर व्यक्त करते हैं। सिवना की सीमा में भी कोतवाल जसुदा की गाड़ी की पूछताछ व टोकाटाकी करते हैं। यहाँ जवाब गाड़ीवान तुक्या ही दे देता है। जसुदा और गजरी बुआ विवाहस्थल पर पहुँच जाते हैं।

दरअसल जसुदा के साथ विवाह में पहुँची गजरी बुआ, गजरी बुआ नहीं खुद टंट्या था। हम पहले ही स्पष्ट कर आए हैं भेष बदलने में टंट्या का कोई सानी नहीं था। भिकी के जैसे भाग खुल गए। किसनिया का ब्याह राजी खुशी निपट गया। टंट्या आकर चला गया। एक बार फिर सारा पुलिस प्रबंध धरा का धरा रह गया। हाथ मलने के सिवाय कुछ हाथ नहीं लगा। सतपुड़ा के मुल्क में टंट्या जैसा वीर-बहादुर आदमी कोई दूसरा नहीं हुआ।

किन्तु, यहीं से किसन्या का भविष्य विचारते-विचारते टंट्या को खुद से आत्मग्लानि होने लगती है। ‘कब खतम होगी यह भागमभाग। मैं बारह बरसों से बस भागता रहा हूँ। जंगलों, पहाड़ों में। लोग तारीफ करते हैं। अच्छा कहते हैं। इसलिए जोश आ जाता है।...सरकार की नजरों में तो मैं गुनाहगार हूँ। डाके डालने वाला। इतनी बड़ी सरकार के सामने मैं कब तक लड़ता रहूँगा? लगा था कि होलकर महाराज मदद करेंगे लेकिन वह भी अब हाथ धोकर पीछे पड़े हैं। घाटाखेड़ी-मकड़ाई के राजा डर-डर के मदद करते हैं। खुलकर सामने आने की हिम्मत नहीं है उनमें भी।”

इस बिद्रेयल के पीछे, इस हताशा के अतिरिक्त गोरे फिरंगियों का दिनोदिन कड़ा होता शिकंजा और एक-एक कर सभी जवाँमर्द रणबाँकुरे साथियों के बिछड़ते

जाने के साथ ही शरीर का निरंतर थकते जाना भी उसकी निराशा का मुख्य कारण था। लेकिन जनता थी कि टंट्या के गीत गाने लगी थी। टंट्या जीते जी मिथ बन गया था।

आषाढ़ के सूखा बीतते न बीतते निमाड़वासियों को पानी की फिक्र सताने लगी। लगातार दूसरे वर्ष अकाल की आशंका से नर्मदा, ताप्ती (सुक्ता व उन्दरी तो उप नदियाँ थीं!) घाटी के लोग आकाश की ओर विस्फारित नेत्रों से निहारते तो कलेजा मुँह को आने लगता। प्रकृति के कोप को नसीब मानकर चलना जैसे यहाँ के लोगों की आदत बन गई थी। आपत्ति का शान्ति से मुकाबला करना और सहते जाना इतना ही वे जानते थे।

बाजार में अनाज के भाव आसमान छूने लगे थे। गोदाम भरे थे पर जनता भूखी थी। टंट्या, भला यह सब कैसे सहन करता? बड़े गोदामों को निशाना बनाया। खंडवा से इन्दौर रेल से भेजे जाने वाले अनाज को लूट लिया। आसपास के जरूरत मंदों में बाँट दिया। टंट्या के इस अभियान से पुलिस व्यवस्था चौंधिया गई। लोग खुलकर सामने आने लगे टंट्या के समर्थन में। पोखर तथा भुईफल के डाकों के बाद कर्नल हैमंड की एक रपट ने अपराध की जानकारी और पुलिस की कार्रवाई पर रोशनी डाली जो कुछ इस प्रकार थी—

टंट्या के क्रूर अपराध की विशेष रपट

जिला निमाड़

क्रमांक 15 (अ)

दिनांक 29-11-1887

अपराध की जानकारी और पुलिस की कार्रवाई

1. इस माह की पच्चीस तारीख को करीब दस डाकुओं ने भुईफल गाँव पर हमला बोल दिया। खंडवा से पश्चिम की ओर बारह मील पर यह 183 घरों का गाँव है जो छैगाँव पुलिस थाने से मात्र तीन मील दूर है।
2. 1879 में इसी गाँव पर डाका पड़ा था। मालगुजार हिम्मत पटेल की हत्या हुई थी। इस अपराध के लिए टंट्या के गिरोह के डाकू बिजनिया को भुईफल गाँव में ही लोगों के सामने फाँसी दी गई थी। अब गोविन्द पटेल वल्द हिम्मत पटेल मालगुजार हैं और लुंगी तथा रुकरू उसके भाई हैं।
3. 25 तारीख को रात आठ बजे मालनपुर गोविन्द खाना खाकर हवेली के अहाते में अलाव के पास हाथ सेंक रहा था। तीन लोग आए और उन्होंने पूछा, गोविन्द पटेल कहाँ रहते हैं। उसने कहा कि मैं ही गोविन्द हूँ तो आठ-दस लोगों ने अन्दर घुसकर उसे बाहर खींचा। बिजनिया को तूने

पकड़वा दिया इसलिए सरकार ने तुझे इनाम दिया, जमीन दे दी। वह सारी रकम हमें अभी चाहिए। कहकर उन लोगों ने मारपीट शुरू की। बड़ी बेरहमी से उसे पीटा गया। फिर उसकी माँ, बीबी बच्चों के बदन से गहने छीन लिए। घर के अन्दर जो दस्तावेज, सरकारी कागजात, बांड पेपर थे उन्हें बाहर निकालकर जला दिया।

4. कुछ डाकुओं ने लुंगी और रुकू के घरों पर हमला किया, मारपीट की, गहने लूटे और कागजात जला दिए।
5. डाकू आधे घंटे तक गाँव में थे फिर भाग गए।
6. छैगाँव पुलिस थाने को खबर मिलने पर आधे घंटे बाद हेड कांस्टेबल भुईफल पहुँच गया। पूछताछ की। सुराग लगाने की कोशिश की लेकिन अँधेरी रात होने से सुबह की प्रतीक्षा करते रहे। मैं जिले के दूसरे सिरे पर था। हेड कांस्टेबल ने इस हादसे के बारे में होलकर अधिकारियों से कुछ नहीं कहा। ऐसा ही हादसा इसके पहले पोखर और बरूड़ में हुआ था।
7. मि. पल्से, खंडवा हेड क्वार्टर पुलिस इंस्पेक्टर, तड़के ही सवा चार बजे भुईफल पहुँच गए। सुबह डाकुओं का सुराग लेने की कोशिश की। दो मील के आगे पत्थरों के टीले के बाद कोई सुराग नहीं मिला। मि. पल्से का अनुमान है कि डाकू होलकरों की सीमा में चले गए होंगे।
8. डाकुओं को शायद पता था कि पुलिस सुराग ढूँढ़ती आएगी। इसलिए उन्होंने मिट्टी के रास्ते छोड़ दिए। सम्भव है कि सुराग लेने वालों को उन्होंने पहले से ही हिदायतें दे रखी हों।
9. अब तक के तीनों हादसों में गुनाहगार होलकरों की सीमा में चले गए हैं इस बात के सबूत मिल गए हैं। होलकरों के मुल्क में टंट्या की खोज करने की इजाजत पुलिस को नहीं है इसलिए उसका पीछा नहीं किया जा सकता।

मध्य भारत अश्व दल (भीलकोर) और होलकर नियुक्त मिलिटरी टंट्या पुलिस के वापस जाने से अब सारा दारोमदार स्थानीय पुलिस पर ही है और वह अकार्यकुशल है तथा विश्वासपात्र भी नहीं है।

इस पृष्ठभूमि पर टंट्या का लगातार डाके डालना चिन्ता की बात है।

टंट्या के डाके पुलिस के लिए जहाँ निरंतर चिन्ता का विषय थे वहीं खुद टंट्या भी निराशा का लगातार शिकार हो रहा था। मन की उमंग कम होने लगी थी। एक दिन मैं बिना थके सालों पहाड़ों, घाटियों में दौड़ लगाने वाला टंट्या अब पन्द्रह बीस मील में ही हॉफने लग जाता था। पैरों में सुइयों का वहम होना पर अब घुटनों और जोड़ों में भी दर्द महसूस होने लगा था।

पैंतालिस की उम्र कुछ अधिक तो नहीं होती? निराशा उसे निरंतर घेर रही थी जिससे उसके विचार भी प्रभावित होने लगे थे। रेवापुरी के महाराज उर्फ बोंदरिया से वह कहता है—“दस साल से हम लगातार भाग रहे हैं। अपने पीछे साहब के कुत्ते लगे हुए हैं। कब तक जंगलों में छिपे रहना? न घर के न दुआर के। अपना कर्हें जिसे ऐसा जमीन का एक टुकड़ा। न किसी बात की फिक्र न किसी चीज का कभी मोह किया। टंट्या ने कुछ लोगों के काम किये। गुस्से में कुछ गलत भी किया होगा लेकिन मन में किसी के भी बारे में साँप जैसा बैर नहीं पाला।

“धनवानों पर मेरा गुस्सा नहीं था। पर उन्होंने गरीबों को कभी सुख के चार कौर खाने नहीं दिए। इसलिए उनका धन गरीबों को दे दिया। वही बात पटेल मालगुजारों के साथ हुई। गरीब किसानों, मजदूरों को कोई पूछने वाला नहीं। अपने पेंदे को ठीक से ढंक भी नहीं सकते। उनकी फटी धोती को भी मालगुजार खींचने लगे। फिर वे बेचारे क्या करेंगे? टंट्या से यह भी नहीं देखा गया। पटेल मालगुजारों को लूटकर गरीबों में बाँट दिया। लेनिक आज मैं सोचता हूँ कि किसी को इस तरह मुफ्त में माल देकर हम उन्हें और भी लँगड़ा बना देते हैं। मुफ्त लेने वाले की भूख और भी बढ़ती जाती है।”

टंट्या वीर था, बहादुर व होशियार था। साथियों ने उसमें चेतना भी भरी थी किन्तु था तो वह साधारण इंसान। हताशा व निराशा से बचने का कोई बहाना उसके पास शेष नहीं रह गया था। बारह पन्द्रह जांबाज रणबाँकुरों के भरोसे उस अंग्रेजी साम्राज्य से, उसके शातिर पुलिस तंत्र व आला अफसरों से टकरा कर पार पा लेना वह नहीं जानता था, जिन फिरंगियों के राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं होता था। उसके, मध्यवर्गीय पढ़े-लिखे साथियों ने उसमें देश प्रेम, राष्ट्रभक्ति की भावना तो भरी थी लेकिन टंट्या व साथियों के दिमाग में देश का मतलब केवल जंगल था जिसके वे राजा थे। जो उनका पालन पोषण करता था। पर जो अब गोरे साहबों के कब्जे में चला गया है।

उसके मध्यवर्गीय पढ़े-लिखे मित्रों के पास भी स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु न तो सुविचारित क्रांतिकारी विचार थे न क्रान्तिकारी राजनीतिक संगठन जो उन्हें क्रियान्वित कर सके। राजे महाराजे तो अपनी रिआसतें बचाना चाहते थे सो टंट्या जैसे अपार साहस व हिम्मत के धनी लोगों के कन्धों पर बन्दूकें सजा दी थीं। अकेले टंट्या का ही क्यों, संपूर्ण, क्रान्तिकारी अभियान 1857 का यही हथ्र हुआ। जोश और खरोश तथा असीम उत्साह से प्रारंभ 1857 के अभियान को गोरे साहबों ने कुचल दिया। रौंद डाला।

“पीछा करने से कभी टंट्या हमारे हाथ नहीं आ सकता। एक तो पहाड़ी इलाका और दूसरे मुल्क उसका साथ देते हैं। अपने लोग ही उसकी मदद करते हैं। इसलिए

मैंने कुछ लोगों से बातें करने के लिए कह दिया है। टंट्या खुद हाजिर होगा तो उसे माफी दी जाएगी। और कुछ गाँवों की मालगुजारी भी दी जाएगी। पोखर की जसुदा से भी काम निकालने की कोशिश करेंगे। टंट्या भी मन में चाहता होगा कि इस तरह कब तक मारा-मारा फिरे।”

यह उस बातचीत का अंश है जो मेजर ईश्वरी प्रसाद और कर्नल वॉर्ड के बीच खंडवा गेस्ट हाउस पर संपन्न हुई थी। इसमें सत्य इतना ही था कि निराशा का बीज टंट्या के मन में पड़ चुका था जो ऊपर हमारे द्वारा उद्धृत वार्तालाप से भली भाँति स्पष्ट है। टंट्या बोंदरिया के सामने इस दो टूक निराशा को खुलकर डिसकस करता है।

अपने आपको सर्वोत्कृष्ट समझने वाले अंग्रेजी राज की बुनियाद ही छल-छद्म और झूठ पर टिकी हुई थी। लिहाजा अंतिम उपाय के रूप में भी छल का ही सहारा अंग्रेजों ने लिया। बाणेर गाँव के राजपूत गणपतसिंह की घरवाली—गंगा, टंट्या की मुँहबोली बहन थी। टंट्या का उनके घर आना जाना बना रहता था। थानेदार मानाजी भगवन्त ने इसी गणपतसिंह को अपना मोहरा बनाया और रियासतदार मेजर ईश्वरीप्रसाद के साथ मिलकर एक योजना का ताना बाना बुना और काम शुरू कर दिया।

“जब इन्दौर के होलकर, भोपाल के नवाब, हैदराबाद के निजाम, एलिचपुर के नवाब, नागपुर के भोंसले और घाटाखेड़ी-मकड़ाई जैसी रियासतों के राजे-महाराजे अपने सूबों और जागीरों को बचाने के लिए अंग्रेजों की जी हजुरी करने में धन्य हो रहे थे तब यह फटीचर सूरमा अपने पाँच पचास साथियों के साथ बिजली की तरह चमक रहा था। दरअसल टंट्या अकेला नहीं था। अकेला होता तो इन दस बरसों में बली अंग्रेज सरकार ने कब की उसकी मुश्कें कस दी होतीं और बन्दी बना लिया होता। उसके साथ नर्मदा, ताप्ती का पूरा मुल्क था। गाँव-गाँव में किसानों, मेहनतकशों, आदिवासियों मजदूरों आदि को टंट्या मामा अपना जन-नायक लग रहा था। और इस बहादुर राजा की मदद सारी जनता कर रही थी।

“दुश्मन और दुश्मन के साथियों से घिरे मुल्क में, वह अकेला अजेय योद्धा की भाँति घूम रहा था। पश्चिम उत्तर में होलकरों की रियासत, उत्तर-पूर्व में नवाब का मुल्क, पश्चिम-दक्षिण में अंग्रेजों का खानदेश, दक्षिण-पूर्व में निजाम का राज और बाकी बचे क्षेत्र में भी अंग्रेजों की सरकार—इस तरह के मजबूत फैलादी चौखटे में टंट्या मामा जूझ रहा था।”

जाल बुना जा चुका था। दाने डाले जा चुके थे। टंट्या भी भरोसे में आ गया। गणपत ने अंग्रेजों की मुखबिरी कबूल ली थी। पैंतालिस हजार रुपए और एक

हजार पाँच सौ एकड़ जमीन की मालगुजारी का प्रलोभन किसी का भी ईमान डिगाने के लिए कम नहीं होता और फिर गणपत तो सिरे से लालची था। काइयाँ व धूर्त भी।

गणपत ने टंट्या को संतुष्ट करा दिया था... 'होलकर महाराज मुम्हें माफी देने को तैयार हैं।' गणपत की पत्नी गंगा का माथा तो ठनका था पर ठहरी औरत जात। उसे राज काज की बातें क्या समझ में आए? गणपत ने फिर पत्ता फेंका—'महाराज सारी शर्तों को मान जाएँगे। मैंने कह दिया कि टंट्या कहता है जो कुछ होना है वह होलकर महाराज के हाथों हो जाए।' टंट्या और सरकार—दोनों से ही माल खींच रहा था—गणपत सिंग।

राखी पूर्णिमा का दिन। टंट्या मामा तो अपने विश्वस्त (सशस्त्र) साथी रघुवीर के साथ गंगा माय के यहाँ राखी बंधवाने बाणेर पहुँचा पर गणपत सिंग की प्लानिंग के अनुसार गंगा माय को पहले ही घर से भगा दिया गया था। दस अगस्त के उस मनहूस दिन टंट्या की मौत उसे बाणेर खींच कर ले आई। गंगा माय तो मिली नहीं व न ही हाथों पर राखी ही बंध पाई। गणपत जीजा जी व पुलिस के षड्यंत्र का शिकार हुआ टंट्या। उसे गोली से छलनी कर दिया गया। विश्वास में मारा गया टंट्या। रिश्तों की निरर्थकता उभर कर सामने आ गई।

टंट्या तब तक, दुर्दांत व अदम्य शक्ति था। किन्तु वह महामानव या अतिमानव नहीं होकर था तो साधारण इंसान ही, सो रिश्ते निभाने में छला गया। आज भी निमाड़ में टंट्या की वीर गाथाएँ गाई जाती हैं। उसके संघर्ष की अजीब अजीब कहानियों से नर्मदा ताप्ती का यह इलाका आज भी गुंजायमान है। निमाड़ के इतिहास का वह एक अविस्मरणीय अध्याय बन चुका है आज भी सतपुड़ा के पहाड़ों, दरों व जंगलों में टंट्या के प्रति आदर भाव उसी तरह विद्यमान है। आमीन।

“बाँस खऽ कामठी बाँस खऽ तीरऽ
खांदऽ राखेज, टंट्या वीरऽ
ले थारी कुकडी, ले थारी धारऽ
भगऽ जा भगऽ जा सात समुन्दर पारऽ
मानऽ मानऽ टंट्या देवत की आणऽ
नई तऽ लगज छाती मऽ बाण।

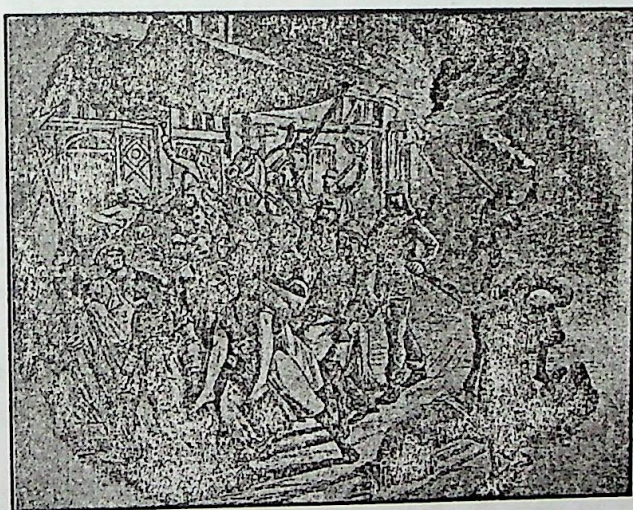
□□

“मारकीन मखमल बिना, चलत कछू नहिं काम।
 परदेसी जुलहान के, मानहुँ भए गुलाम॥
 वस्त्र काँच कागज कलम, चित्र खिलौने आदि।
 आवत सब परदेस सों नितहिं जहाजन लादि॥
 इत की रुई सींग अरु, चरमहिं नित लै जाय।
 ताहि स्वच्छ करि वस्तु बहू, भेजत इतहिं बनाय॥
 तिनही को हम पाई कै, साजत निज आमोद।
 तिन बिन छिन तृन सकल सुख, स्वाद विनोद प्रमोद॥”

॥ HkjrHqgfj 'lpU

॥ साहित्य ॥

1857 : गालिब और दस्तम्बू



अग्नि-दाह!

बर्बर अंग्रेजों ने जला दिये गाँव के गाँव! घर के घर! कानपुर जिले का एक जलता हुआ गाँव।

1857 की यादों पर मिर्जा गालिब ने एक रुदाद लिखी थी जो बाद में 'दस्तम्बू' नाम से शायी हुई। डायरी की शक्ल में लिखी गई यह रुदाद मूलतः फारसी में थी। इसका हिंदी अनुवाद अब्दुल बिस्मिल्लाह ने उपलब्ध कराया है। नाम 'दस्तम्बू' ही रहने दिया गया है। इसी पुस्तक को आधार बनाकर हमने 1857 के महान स्वाधीनता संग्राम के दौरान इस महान शायर की भूमिका, सोच और प्रतिक्रिया को जानने की कोशिश की तो जिस गालिब से हमारा सामना हुआ वह बेहद डरा हुआ, खुदगर्ज और अंग्रेजों का अन्धभक्त निकला। रुतबे, पदवी, पुरस्कार और पेंशन के लिए ही गालिब प्रयत्न करते रहे। याचनाएँ कीं, कसीदा लिखा क्वीन विक्टोरिया

1857 : इतिहास और साहित्य / 95

के नाम। 17 मार्च बुधवार को लिखे विवरण में वे खुद को... 'पेट रखने वाला जीव—जिसे रोटी चाहिए'... तक लिख गए। हद है! यहाँ हम सिलसिलेवार ऐसे ही कुछ चुनिंदा नोट्स 'दस्तबू' से उद्धृत कर रहे हैं ताकि 1857 के स्वाधीनता संग्राम के बारे में मिर्जा गालिब की भूमिका को लेकर कोई भ्रम नहीं रह जाए। निरंतरता में कुछ चुनिंदा उद्धरण :

दस्तबू : पृष्ठ 23, 24... "वास्तव में सोमवार का वह दिन बड़ा ही भयानक था, जब 11 रमजान 1273 हिजरी को, जो कि अंग्रेजी कैलेण्डर के हिसाब से भी 11 मई सन् 1857 का दिन था, सहसा दिल्ली के दरो दीवार इस प्रकार हिलने लगे कि समूचे शहर में उनकी धमक सुनाई देने लगी। यह कोई भूचाल न था, बल्कि मेरठ के बागी और नमक हराम सिपाही थे, जो उस दुर्भाग्यपूर्ण दिन को अंग्रेजों के खून से अपनी प्यास बुझाने के लिए दिल्ली शहर में घुस आए थे। यह आश्चर्य की बात न होगी, अगर कहा जाए, कि दिल्ली दरवाजों के संतरी, जो कि पेशे में उन खूनी लुटेरों के साथी थे, वे भी इस षड्यन्त्र में बराबर के भागीदार थे।"

"शहर की रखवाली की जिम्मेदारी को भूलकर, खाए हुए नमक को नकार कर, संतरियों ने द्वार खोल दिए और बागियों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से आमंत्रित किया। फुर्तिले घुड़सवारों और पैदल शस्त्रधारियों की बागी सेना ने ज्यों ही दरबानों को मित्र और दरवाजों को खुला पाया समूचे शहर को उन्होंने पागलों की भाँति अपने पैरों से रौंद डाला। उन्होंने उस समय तक अंग्रेजों तथा उनके अफसरों का पीछा नहीं छोड़ा जब तक कि उन्हें मौत के घाट उतार नहीं दिया और उनके डेरों को उजाड़ नहीं दिया गया।"

"...मैंने चीखों और शोर-शराबे के बीच यह सुना कि लाल किले का सरदार और ब्रिटेन का एजेण्ट मौत के घाट उतार दिए गये। चारों ओर घोड़ों की टापों तथा सिपाहियों के पैरों की धमक सुनाई दे रही थी। जमीन पर एक मुड़ी धूल भी न बच पाई थी, जो फूल जैसे बदन रखने वालों के खून से सन न गई हो और कोई बगीचा बाकी न था, जो कब्रिस्तान में बदल न गया हो। अफसोस होता है उन न्यायकारी, बुद्धिमान, सज्जन और विख्यात अंग्रेज अफसरों की हत्या पर! दुख होता है उन रूपवती, कोमल चन्द्रमुखी और चाँदी जैसे बदन वाली अंग्रेज, महिलाओं की मृत्यु पर! उदास हो जाता है मन उन अंग्रेज बालकों के असामयिक अन्त पर जो अभी संसार को भली-भाँति देख भी नहीं पाये थे। स्वयं वे फूलों की भाँति थे और फूलों को देख कर हँस पड़ते थे। उनकी चाल को देखकर हिरण चलना सीखते थे...कि जिन्हें सहसा रक्त के भँवर में डाल दिया गया। अँगारे उगलने वाली मौत भी इन महान व्यक्तियों के शोक में काले कपड़े पहने तो गलत न होगा।

अगर आसमान टूटकर धरती पर गिर पड़े और धरती पर बवंडर फैल जाए तो भी इनकी मृत्यु का हिसाब चुकता न होगा।”

पृष्ठ 25-26 ...“धीरे-धीरे दूर-दराज के शहरों से यह खबर आने लगी कि बागी सिपाहियों ने अपने अफसरों की हत्या कर दी है और खुलेआम अपने अफसरों की हत्या करने के लिए बैरक से निकल पड़े हैं।”

पूरे मुल्क में नमकहराम जमींदारों और सिपाहियों ने आपस में गठबंधन कर लिया है, ताकि पूरी ताकत के साथ सरकार के विरुद्ध मोर्चा ले सकें। केवल खून की नदी ही उन्हें संतुष्ट कर सकती है...

‘बिना राजा के शहर, बिना मालिक के नौकर, बिना माली के बाग. ..जैसे पेड़ों के झुरमुट तो हों बाग में, पर उनमें फूल न हों। लुटेरे हर तरह से आजाद हैं। व्यापारियों ने टैक्स देना बंद कर दिया है। बस्तियाँ वीराने में बदल चुकी हैं और घरों में बेनाम शरणार्थी घुसकर उन्हें लूटपाट की जगह समझ बैठे हैं।’...

पृष्ठ-27 “डाक का काम ठप्प हो गया है, क्योंकि रास्तों का सिलसिला कट गया है। डाकियों के लिए आना-जाना मुश्किल हो गया है। अब तो न पत्र भेजे जा सकते हैं और न ही पाए जा सकते हैं। बहरहाल टेलीग्राम से, जो वायर के बजाए वाइब्रेशन से चलता है, संदेश भेजे और पाए जा सकते हैं।”

पृष्ठ-29 “सिपाहियों ने तोपखाने से बन्दूकें निकाल ली हैं और शहर के ऊँचे स्थानों पर आकर मुहाना साध लिया है। वास्तव में बागी सिपाहियों और अंग्रेजों के बीच सीधा मुकाबला हो रहा है। तोपों और बन्दूकों का धुआँ देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो काले बादल आसमान में लटक रहे हों और पत्थरों की वर्षा हो रही हो। सारा दिन तोपों की आवाजें सुनाई दे रही हैं।”

पृष्ठ-31 “दुश्मन की फौजें भारत के कोने-कोने से एकत्र हो रही थीं। चूँकि बादशाह स्वयं इंकलाबी था इसलिए बड़े-बड़े सरदार जो दूर-दूर के प्रान्तों से आये हुए थे, सबके सब इंकलावियों से आकर मिल बैठे। फर्रुखाबाद के एक बड़े घराने का अमीर, तफज्जुल हुसैन, जिसने पहले कभी बादशाह से हाथ मिलाने की चेष्टा न की थी, वह भी बादशाह से एक अच्छे मित्र और सहयोगी की भाँति (पिछली बातों को भुला कर) आ मिला और उन्हें अपने कृपा पात्र होने का यकीन दिलाया।”

‘खान बहादुर खान एक बहका हुआ अमीर, सत्ता की तलाश में कुछ सिपाहियों को बरेली से अपने साथ लेकर बादशाह के समक्ष उपस्थित हुआ और बादशाह को एक सौ सोने के सिक्के भेंट किये। इसके अतिरिक्त

उसने बादशाह को कुछ हाथी-घोड़े भी चाँदी की जीनों के साथ भेंट किये।
बुरी नजर रखने वालों का नाश हो।

पृष्ठ-32 'नवाब यूसुफअली खान बहादुर जो रामपुर का खानदानी राजा था, उसने अंग्रेजों के साथ इतनी घनिष्ठ मित्रता बनाए रखी थी, जिसे हजार साल के बाद भी तोड़ा नहीं जा सकता। बागियों को उसने एक जबानी पैगाम भेजा और उनके साथ हो लिया।'।

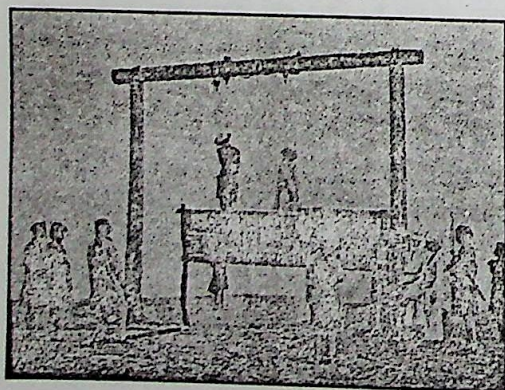
पृष्ठ-33 'यद्यपि मई के महीने में दिल्ली से न्याय उठ गया परन्तु सितंबर के महीने में अत्याचार के स्थान पर एक बार फिर न्याय आ बैठा।

फिर चार महीने और चार दिन के बाद सारी धरती प्रकाश से प्रज्ज्वलित हो गई।

दिल्ली दीवानों से खाली हो गयी और उसकी बागडोर दूरदर्शी तथा बुद्धिमानों के हाथों में पहुँच गई।'।

(‘खुशामद’ और किसे कहेंगे?)

‘ग्यारह मई से चौदह सितंबर तक चार महीने और चार दिन होते हैं। सोमवार को दिल्ली पर बागियों का कब्जा हुआ था और सोमवार को ही उनसे दिल्ली खाली करा लिया गया। ...शहर का छीना जाना और उस पर दुबारा अधिकार पाना एक ही दिन की बात है। संक्षेप में यह कि विजयी अंग्रेजों ने दुश्मन (भारतवासी—जोर हमारा) बागियों को, जहाँ कहीं रास्ते में पाया, जान से मार डाला।’



फाँसी लटकाया

कई निर्दोषों को सूली (फाँसी) पर चढ़ा दिया जाता था।

घोर अमानवीयता,

जघन्य अपराध!

पृष्ठ-34 '...बहुत सारे कमजोर और बेसहारा लोगों को उन्होंने जान से मार दिया, उनके घर जला दिये। विजेताओं की विजय के समय तो ऐसा होता

ही है।'... 'मैं क्यों किसी से भयभीत रहूँ। मैंने तो कोई पाप किया नहीं है। इसलिए मैं सजा का पात्र नहीं हूँ। न तो अंग्रेज ही बेगुनाह को मारते हैं न ही नगर की हवा मेरे प्रतिकूल है। मुझे क्या पड़ी है कि स्वयं को हलकान करूँ?' देखें—

‘मेरी खोली खाली है
मेरे आशा-तरु के पत्ते झड़ चुके हैं
या खुदा! मैं कब तक इस बात से खुश होता रहूँ
कि मेरी शायरी हीरा है
और ये हीरे मेरी ही खान के खजाने हैं।’

अथवा कि—

‘मेरी आत्मा मेरे शरीर से ज्यादा कमजोर है
क्योंकि मेरा हृदय
मेरे कारागार के कोने से
अधिक छोटा है।’ पृष्ठ-35

गोरों को गालिब ‘मित्र की सेना’ कह कर संबोधित करते हैं जबकि बागी उनके लिए ‘शत्रु की सेना’ थे।

किस्सा क्रसीदा ए विक्टोरिया :

गालिब ने न्यायप्रिय, दयावान और तारों जैसी चमक रखने वाली मलिका विक्टोरिया के सम्मान में एक क्रसीदा लिख कर भेजा था जो दिल्ली से बंबई होता हुआ लंदन पहुँचा। लॉर्ड इलेन बोरो जो एक नामी शासक, कलाप्रेमी एवं दयावान व्यक्ति थे—और जिन्होंने अपनी गवर्नरी के समय गालिब का हर तरह साथ दिया था, छत्रछाया प्रदान की थी—के सहयोग से ही ऐसा कर पाना संभव हो सका था। क्या था—क्रसीदा?

वह रानी, कि चन्द्रमा जिसका भुकुट है, आकाश जिसका आसन है, जो जमशीद जैसी प्रतापी है, फरीदून जैसी तेजस्वी और काऊस जैसा स्थान रखने वाली है, उसके पास संजर जैसा दबदबा है और सिकन्दर जैसी महानता। वह ऐसी रानी है कि रोम का राजा उसे धन्यवाद देता है कि उसने उसके राजपाट की गरिमा को बचा लिया। रूस के शासक उसके सैन्य बल से काँपते हैं। सूर्य इस बात से थरथर काँपता है कि यह संसार का झुलसना उसके क्रोध का कारण है। वह पूर्ण चंद्रमा को तथा संसार को अपने प्रकाश से प्रज्वलित करता है। वह भी उसकी बराबरी पर आने से डरता है। उसका हर रात घट जाना इस बात का प्रतीक है।

1857 : इतिहास और साहित्य / 99

वह शस्त्र कला एवं अन्य ज्ञानों की ज्ञानी है। वह एक ऐसी शासक है जो दूसरों को शासक बनाती और शासन प्रदान करती है। वह ज्ञान का भंडार, उभरता सूर्य एवं भले आचरण वाली है। वह न्याय के क्षेत्र में नोशेखां से उच्च है। जमशीद अपने ज्ञान को इसीलिए संभाल कर रखता था ताकि वह नामधारी महारानी को प्रस्तुत कर सके। खुसरो की ओर से हीरे-मोतियों का खजाना बिना किसी कष्ट के रानी को उपहारस्वरूप मिला।

वह सिंहासन जिसे वायु अपने कंधों पर उठाये रखती थी, अज्ञात आकाश दूत ने उसे भी उपहार स्वरूप रानी को भेंट किया। तुम नहीं देखते कि पहाड़ों में, पत्थरों के हृदय से रंग-विरंगे मोती निकलते हैं। सूर्य को तो उसके मुकुट का ख्याल रहता है, वरना उसे मोतियों से क्या काम? यदि वह (महारानी विक्टोरिया) मोती लुटाने की चेष्टा करे और लुटा दे तो इतने अनगिनत मोती बिखर जाएंगे कि अगर उन्हें कोई गिनना चाहेगा तो उसकी उंगलियाँ घिस जाएँगी। उसकी सेना, जो लड़ाई के समय दरियाओं और पहाड़ों को भी तहस-नहस कर देती है—यदि ऐसा हो तो पहाड़ों में छिपे नाग और दरियाओं में छिपे मगरमच्छ सिर पटक कर मर जाएँगे। उसकी साज-सज्जा का हाल यह है कि महान से महान राजा उसके भिखारी हैं। उसके प्रकाश और उसकी प्रज्वलता के कारण ही आकाश में सूर्य चमक रहा है तथा बादलों में बरसने की क्षमता विद्यमान है।

वह अपनी व्यक्तिगत दान दक्षिणा से ज्ञानियों की झोली भर देती है, साथ ही अन्य लोग जो इन ज्ञानियों से शिक्षा पाते हैं, वे भी बुद्धिमत्ता से परिपूर्ण हो जाते हैं।

उसके व्यक्तित्व में जो दान प्रदान करने की भावना है उसे देखकर आश्चर्य होता है। इस महारानी का नाम विक्टोरिया है।

यदि मैंने महारानी के हाथ से कुछ दान प्राप्त कर लिया, तो मेरा इस संसार में रहना व्यर्थ न होगा।

जब बात यहाँ तक आ पहुँची तो मैंने मौन धारण कर लिया क्योंकि मैं कहानी कहना नहीं चाहता।

क्रसीदे की शब्दावली और गालिव का अभीष्ट अलग से किसी व्याख्या या विश्लेषण का मोहताज नहीं है। भाषा और शब्दावली से अर्थ फूट-फूट कर निकल रहा है। स्वयं सिद्ध। मुँह बोलता। प्लासी युद्ध के 100 बरस होने पर जहाँ देश स्वाधीनता हेतु पहला मुक्ति संग्राम लड़ रहा था, सिपाही क्रांति चल रही थी तब यह शब्दावली और यह खुदगर्जी—जो जानी वूझी व सोची समझी थी—क्या दर्शाती है? गालिव अज्ञानी नहीं थे। शब्दों के माहिर व जानकार थे, एक भी शब्द वे जाया नहीं करते थे। क्रसीदे का अर्थ निकालना नहीं पड़ता—खुद निकल आता है।

100 / 1857 : इतिहास और साहित्य

तीन महीने बीतते न बीतते ही लॉर्ड इलेन बोरो के ज़रिये एक दिन एक शुभ-पत्र अंग्रेजी में लिखा हुआ गालिब को मिल गया था कि क़सीदा महारानी को मिल चुका है—शीघ्र ही उनके सम्मुख पेश कर दिया जाएगा कि एक और पत्र भी मिस्टर रेजिंगटन बहादुर की ओर से मिला जिसमें हिदायत थी कि—प्रशासनिक प्रणाली के मद्देनजर क़सीदा सीधे नहीं भेजते हुए भारतीय शासन के द्वारा भेजा जाए। जिसे बाद में लॉर्ड कैनिंग के हस्ताक्षर से गालिब की दरखास्त सहित भेज दिया गया। गालिब इस बर्बर हत्यारे (इतिहास के छात्र बेहतर जानते हैं) लॉर्ड कैनिंग को 'नवाब, गवर्नर जनरल बहादुर' से सुशोभित करते हैं। इस प्रार्थना पत्र में गालिब ने अपने उद्देश्य/क़सीदे के सबब को और भी खोलकर साफ़ शब्दों में लिखा—

दस्तबू—पृष्ठ 41, 42, 43 ... 'रोम, ईरान और अन्य देशों के राजाओं की भाँति, जिन्होंने अपने कवियों तथा शुभचिंतकों के मुँह मोतियों से भर दिये थे, गर्दनो में सोने की माला पहना दी थी और जागीरें अथवा अन्य उपहार भेंट किये थे, दयालु महारानी भी प्रार्थी अर्थात् गालिब को 'मेहर खान' की उपाधि से और आभूषणों से विभूषित करे। साथ में कुछ जीविकोपार्जन का साधन भी उपलब्ध कराएँ जिसे अंग्रेजी में पेंशन कहते हैं।'

इस दरखास्त को भेजे जाने से गालिब बेहद खुश थे। वे दस्तबू में (पृ. 42) लिखते हैं—'मुझे विश्वास है कि यदि भारतीय शासन में तात्कालिक इंकलाब के कारण उथलपुथल न हुआ होता, यदि न्याय का मार्ग विश्वासघाती सिपाहियों के कारण न बदला होता, तो अब तक इंग्लैंड की ओर से मुझे सम्मानित किया जा चुका होता।' अर्थात्, बेड़ा गर्क हो इस 'इंकलाब' का?

“किसी तीर या तलवार ने मुझे हलाक नहीं किया

किसी शेर या चीते ने मेरे शरीर पर

अपने पंजे नहीं मारे

बल्कि मैंने खुद अपने होंठ काट लिये हैं

और उनसे बहते हुए रक्त को अपनी जीभ से मल रहा हूँ।

मैं खून पी रहा हूँ और अपने जीवन से थक गया हूँ”

पृष्ठ-43 पर गालिब ने लिखा है—

‘हे संसार के साथ न्याय करने वाले और भलाई करने वाले व्यक्ति! अगर तेरा हृदय और तेरी जबान एक हो तो ईश्वर को साक्षी मानकर हिंदुस्तानियों के चरित्र को ध्यान में ला, कि अपने मालिक से धोखा पाप है और बिना किसी अपराध के, अकारण ही हमने अपनी तलवार अपने मालिकों के खिलाफ उठाई और बेबस स्त्रियों तथा झूले में खेलते बच्चों को मौत के घाट उतार दिया। ...दिल्ली पर कब्जा

करने के पश्चात् यह सोचा जा सकता है कि वे नगर के एक-एक कुत्ते-विल्ली को जीवित न छोड़ेंगे।”

स्पष्ट है कि 1857 को लेकर ग़ालिब के मन-मस्तिष्क में न तो वागियों के प्रति न ही इंकलाब के प्रति कोई सहानुभूति थी। उल्टे उनकी सहानुभूति आततायी अंग्रेजों के प्रति थी। खुशामद की हद तक राजभक्ति। खुद का भला इस हद तक सोचना कि वागी, दुश्मन ही नहीं कुत्ते-विल्ली नजर आने लगे। यह इंतहा थी। ‘वजीफः’ ही जैसे उनके लिए ओढ़ना-विछौना, जीना-मरना हो गया था।

ग़ालिब स्वीकार करते हैं कि मेरा अधिकतर लेखन जनश्रुतियों पर आधारित है। इतिहास लेखन भी क्या उनके लिए ‘जनश्रुति’ ही था? देखें—‘यह बात छिपी नहीं कि बरेली, फर्रुखाबाद और लखनऊ में वागियों की टुकड़ियों ने अपनी लड़ाई बराबर जारी रखी है। खुदा करे कि उनके दिलों से खून की धारा फूट पड़े और उनके हाथ टूट जाएँ, जिन्हें उन्होंने इस क्रूर कार्य के लिए उकसा रखा है।” (पृष्ठ-46, दस्तबू)

‘जनवरी 1858 के आरंभ में हिंदुओं को आजादी मिल गई और उन्हें नगर में बसने की अनुमति भी दे दी गई। हिन्दू लोग जहाँ-जहाँ थे, नगर की ओर चल पड़े। बरबाद मुसलमानों के घर खाली रहने के कारण उन पर घास उग आई है और उनकी चौखट एवं दीवारें हरी दिखाई पड़ रही हैं। दीवारों पर उगी घासों से हर वक्त यह आवाज आती है कि मुसलमानों के स्थान रिक्त हैं।” (पृष्ठ 52, दस्तबू)

छा गया दरो दीवार पर सब्ज-ए-ग़ालिब

हम वीराने में हैं और गुलशन में बहार आई है।

यहाँ इस ऐतिहासिक तथ्य को विस्मृत नहीं करना चाहिए कि, 1857 हिन्दू-मुसलमानों ने मिलकर लड़ा था। तब तक कोई विभाजन मूर्त नहीं हो पाया था। सारी कोशिशें विफल रही थीं। 1857 की लड़ाई के बाद जब कंपनी राज का पराभव हो चला था व क्वीन विक्टोरिया ने वागडोर संभाल ली थी तब अंग्रेजों ने हिंदू-मुसलमानों में विभाजन की नीति—‘फूट डालो और राज करो’ को ऑफिशियली अपना लिया था। अमली जामा पहनाने लगे थे, क्योंकि हिंदू-मुसलमानों को बाँटकर ही वे कुछ वर्षों तक और राज कर सकते थे। 1857 ने भारतवासियों को मुक्ति/स्वतंत्रता के लिए लड़ना, मरना सिखा दिया था।

जनवरी 1858 में ग़ालिब के दिमाग में हिंदू मुसलमानों में बाँटकर सोचने का फितूर कैसे व कहाँ से आ गया! क्या यह सब भी उन्होंने ‘जनश्रुति’ से सीखा? या फिर अंग्रेजों के साथ/सोहबत ने उन्हें सिखाया? अंग्रेजों को वे आजाद और सल्कर्मी जाति के लोग मानते थे।

बेचारे ग़ालिब! 'दस्तंबू' में 17 मार्च बुधवार के दिन को लिखी गई अपनी टिप्पणी में स्वीकारते हैं... 'मैं तो पेट रखने वाला जीव हूँ, मुझे तो रोटी चाहिए।' (पृष्ठ-56)

'दुनिया वालों के लिए उचित यही है कि वे उन व्यक्तियों के सामने नतमस्तक हो जाएँ जिन्हें खुदा ने भाग्यशाली बनाया है। उन्हें चाहिए कि वे उनके सामने सिर झुकायें और शासक के आज्ञा पालन को खुदा की आज्ञा पालन समझें। जब हमें ज्ञात है कि भाग्य, शासन और शक्ति किसको प्रदान की हुई है तो फिर यह मोर्चा बन्दी और आक्रमण क्यों है?' अपने इस तर्क के समर्थन में वे शीराज़ के कवि 'सादी' को उद्धृत करते हैं—

“अगर गुलाम अपने मालिक के सामने,
सिर नहीं झुकाएगा तो और क्या करेगा।

चौगान खेलते समय गेंद घुड़सवार के,

आज्ञा पालन के अलावा और क्या कर सकती है।

यदि, इस हद तक लिख जाने व एक अदद पेंशन अथवा वजीफे के लिए अपने ज़मीर तक को भुला देने के उपरान्त भी ग़ालिब को पेंशन नहीं मिलती तो वह गुनाह और बेलज्जत ही होता। 1857 से रुकी पेंशन 1860 में फिर से जारी हो गई थी। 1863 में उन्हें सरकारी दरबारों में शामिल होने का हक़ फिर से मिल गया।

वे कुछ अतिरिक्त सम्मान की आकांक्षा करने लगे। खिलअत, कुर्सीनशीनी (ओहदा), पालकी व उपाधि के अलावा भी कुछ कुछ चाहने लगे। उन्होंने एक आवेदन प्रस्तुत किया कि उन्हें इंग्लैंड की महारानी का राजकवि नियुक्त किया जाए और उनकी पुस्तक 'दस्तंबू' को सरकारी संरक्षण में प्रकाशित किया जाए। किंतु दोनों ही मांगें अस्वीकृत हो गईं। इस संबंध में इंग्लैंड के गृह मंत्रालय से जो उत्तर ग़ालिब को प्राप्त हुआ उसके अनुसार ग़ालिब को महारानी का राजकवि तो नियुक्त नहीं किया जा सकता पर यदि भारत के गवर्नर जनरल चाहें तो अपना दरबारी शायर बना सकते हैं। महारानी को कोई आपत्ति नहीं होगी।

इस दृष्टि से प्रयत्न भी शुरू हुए। गवर्नर जनरल की कौंसिल ने सरकार से एक रिपोर्ट भी माँगी कि ग़दर के दिनों में ग़ालिब का व्यवहार कैसा था। किंतु यहाँ फिर दुर्भाग्य आड़े आ गया। जॉच पड़ताल के दौरान बादशाह बहादुरशाह के लिए लिखे गए कथित 'सिक्के' की इबारत आड़े आ गई। सरकारी भेदिए की रिपोर्ट जो अभिलेखों में दर्ज थी फिर बाधा बन गई। ग़ालिब फिर एक बार दरबारी शायर बनने के सौभाग्य से वंचित रह गए। तथापि उनके मामले को पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर के पास भेजा गया और आदेश जारी किया गया कि ग़ालिब से प्राप्त दोनों माँगों के सिलसिले में अपने स्तर पर कार्रवाई कर रिपोर्ट प्रस्तुत करें।

1857 : इतिहास और साहित्य / 103

फिर दौड़े कागज़ी घोड़े। फाइलें चलीं पर पगड़ी के नाम पर वही गुलसप्पा! अभिलेख फिर आड़े आ गए जो ग़ालिब का दुर्भाग्य बने। जब ग़ालिब जनवरी 1866 में दूसरी बार रामपुर में थे उन्हें पंजाब सरकार से एक पत्र मिला। इसमें उनसे कहा गया था कि वे अपनी पुस्तक 'दस्तंबू' की एक प्रति चीफ़ सेक्रेटरी के पास भेज दें। रामपुर में उन्हें 'दस्तंबू' की जो प्रति मिली वह ऐसी हालत में नहीं थी कि उसे सरकार बहादुर के पास भेजा जाता। उन्हें उम्मीद थी कि यदि यह पुस्तक सरकार छापती है तो उनकी माली हालत सुधर सकती है। समाज में रुतबा भी बढ़ेगा।

आनन फ़ानन में ग़ालिब ने पुस्तक का नया संस्करण तत्काल छापने का निर्णय लिया। जो प्रति उपलब्ध हुई उसमें ताबड़तोड़ संशोधन कर मुद्रण के लिए बरेली अपने मित्रों को भेज दिया और कुछ समय बाद, जब दूसरे संस्करण की प्रति छपकर उन्हें मिल गई तो उन्होंने उसे पंजाब सरकार के पास भेज दिया।

फिर चले रुकके। फिर दौड़ी फाइलें। इस बार पंजाब सरकार ने पुस्तक 'दस्तंबू' पर एक विशेषज्ञ से रिपोर्ट बुलाई। इस विशेषज्ञ ने बड़े अनमने भाव से पुस्तक की भाषा को पुरानी फारसी, दुरूह व समझ में नहीं आने वाली बोझिल पुस्तक करार देते हुए लौटा दिया। सरकार तो ऐसे ही काम करती है? दरबार में कुर्सी का ओहदा बढ़ा, खास 'खिलअत' भेंट हुई, पेंशन व पालकी बरकरार रही पर 'दस्तंबू' का सरकारी प्रकाशन नहीं हो सका।

ग़ालिब जब बहुत छोटे थे, तभी उनके पिता का और फिर इसके बाद उनके ताऊ का देहान्त हो गया। अपने समय की सामाजिक अव्यवस्था के दुष्प्रभाव से ग़ालिब भी बच नहीं सके। एक वेश्या से आशनाई, शराबखोरी, जुआ खेलना (एक बार तो जुआ में जेल तक काटना पड़ी!) जैसी आदतों को उन्होंने अपने जीवन में पाल लिया था। किंतु इन दुर्व्यसनों का निर्वाह नियमित एवं पर्याप्त धन के अभाव में संभव नहीं था। इस तरह हम देखते हैं कि उनके जीवन में असुरक्षा की लंबी व दुर्भाग्यपूर्ण स्थितियाँ विद्यमान रहीं। उन्हें अपने जीवनयापन तक के लिए दूसरों का मुँह जोहना पड़ता था। इन सब दुरावस्थाओं का व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव तो पड़ता ही है। जगतगति उसे भी सताती है।

रामपुर से दिल्ली लौटने के सफर में उन्हें शारीरिक व्याधियों ने जकड़ लिया। ग़ालिब का स्वास्थ्य तेजी से गिरने लगा। पुरानी कब्ज़ ने कई और बीमारियों को पनपा दिया। 1862-63 में सारे शरीर में फोड़े निकल आए। नासूर हो जाने से कमजोरी और बढ़ती गई। हर्निया हो गया। अन्ततः 15 फरवरी 1869 को उनकी मृत्यु हो गई।



1857 : पत्र-पत्रिकाएँ

1857 भारत के स्वाधीनता संग्राम की लड़ाई में हमारे यहाँ पत्र-पत्रिकाओं की भी कारगर भूमिका रही है। भारतीय भाषाओं की अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने मुकम्मल आज़ादी तक अत्यंत ही उल्लेखनीय योगदान किया। नव जागरण को समझने के लिए इनसे गुज़रना लाजमी है। अत्याचार, अन्याय, अनाचार, राजनीतिक व सामाजिक विद्वेष के विरुद्ध राजनीतिक व स्वातंत्र्य चेतना के प्रति जन जागरण, मुक्ति संघर्ष व प्रतिबद्धता के प्रसारण हेतु हमारे नेताओं ने इन पत्र-पत्रिकाओं का पर्याप्त सहारा लिया। भरपूर उपयोग व दोहन किया। तब पत्र-पत्रिकाओं, राजनीति व साहित्य के मध्य बहुत बारीक-सी रेखा रही हो तो रही हो वरना तो राजनीति-धर्म-साहित्य सभी स्वतंत्रता आंदोलन के पूरक व पर्याय बन गए थे।

यद्यपि 1857 के वक्त के प्रायः समाचार पत्र और पत्रिकाएँ नष्ट हो चुके हैं तथापि जो भी थोड़े बहुत प्रमाण हमारे राजकीय तथा राष्ट्रीय अभिलेखागारों में सुरक्षित बच रहे हैं वे कम हैरतअंगेज और कम रोमांचक नहीं हैं। सरकारी गजट और दस्तावेजों/अखबारों के विरुद्ध जन संघर्षों से निकले पत्रों में भाषा, साहित्य, मुहावरों, विवरणों, घटनाओं आदि में मिलिटेंसी भरपूर देखने-पढ़ने को मिलती है। जोश और जुनून से लबरेज। आज़ादी के जज़्बे से परिपूर्ण।

1857 के स्वाधीनता संग्राम को लेकर जिन अखबारों का ऐतिहासिक व सार्वकालिक योगदान रहा उनमें 'पयाम-ए-आज़ादी' का नाम अग्रणी रहा है। 'पयाम-ए-आज़ादी'—समाचार पत्र, हमारे इस स्वाधीनता संग्राम का मुख-पत्र जैसा ही रहा। नाना साहब पेशवा के सचिव रहे अजीमुल्लाह खाँ जो इंग्लिस्तान की यात्राएँ भी कर चुके थे, वे कुशाग्र-बुद्धि व पढ़े लिखे विद्वान भी थे—वे ही 'पयाम-ए-आज़ादी' समाचार-पत्र के संपादक थे। जबकि मुक्ति संघर्ष के सर्वग्राह्य नेता बहादुरशाह के पौत्र बेदार बख्त इसके प्रकाशक थे। उन्हें अंग्रेजों ने अपनी जीत के साथ ही फाँसी

पर चढ़ा दिया। इतना ही नहीं जिस किसी के यहाँ अथवा पास में 'पयाम-ए-आज़ादी' की प्रति मिली उन्हें भी मौत के घाट उतार दिया।

बादशह बहादुरशाह जफर के प्रति 'देहली उर्दू अखबार' की वफादारी और स्वाधीनता संघर्ष के प्रति प्रतिबद्धता इस समाचार-पत्र के लिए जी का जंजाल बन गयी। इस अखबार में अंग्रेज शासकों के विरुद्ध तथा देशी रियासतों के पक्ष में बहुत ही सटीक विवरण अभिधा में प्रकाशित किये जाते थे। खबरें भी प्रतीकों, बिंबों और व्यंग्य में दी जाती थीं। इसके संपादक प्रकाशक मोहम्मद बाकर को तोप से उड़ा दिया गया। इनके बाद इनके बेटे मोहम्मद हुसैन 'देहली उर्दू अखबार' के संपादक प्रकाशक बने। किन्तु अखबार के तेवर तब भी बरकरार रहे। तुर्शी में कोई कमी नहीं आई। इसी प्रकार दिल्ली से ही निकलने वाले 'सादिक-उल-अखबार' के संपादक सैयद जमीलउद्दीन खाँ को स्वाधीनता संघर्ष के दौरान बंदी बना लिया गया था।

इंदौर के 'मालवा अखबार' (1848-49) तथा ग्वालियर के 'अखबार ग्वालियर' में भी तब 1857 के मुक्ति संघर्ष तथा क्रान्तिकारियों के बारे में अगले कुछ वर्षों तक भी जानकारीयाँ प्रकाशित होती रहीं। कलकत्ता (अब कोलकाता) के 'समाचार सुधावर्षण' के संपादक श्यामसुंदर सेन ने साहस का अदम्य परिचय देते हुए तब बहादुरशाह द्वारा जारी अंग्रेजों को देश से बाहर निकालने का पूरा का पूरा फरमान छाप दिया था और अंग्रेजों के कोप भाजन बने थे। परिणामस्वरूप उन पर मुकदमा चला किन्तु श्री श्यामसुंदर सेन की हाजिर जवाबी व कुशाग्र-बुद्धि के आगे अंग्रेजों की दलीलें ढेर हो गईं। उनका जवाब था—हमने तो बादशाह का वही फरमान छपा है जिसके जरिये अंग्रेजों को बंगाल की दीवानी वसूल करने का अधिकार मिला है।

स्वाधीनता का यह संघर्ष तब सभी ने मिल कर लड़ा था। तब न देश विभक्त था न ही देशवासी। हिन्दू-मुस्लिम-सिख सभी कौमें थीं—भारतवासी। इसी राष्ट्रीय (तथा जातीय) एकता को सशक्त बनाने के लिए समय-समय पर बादशाह द्वारा कई फरमान जारी किये गए जिन्हें तब की पत्र पत्रिकाओं ने पूरे जोश-ओ-खरोश के साथ समय-समय पर प्रकाशित भी किया। सिपाहियों में छोटे-बड़े, ऊँच-नीच के भेद की इजाजत नहीं थी। जंग-ए-आजादी को जब जीत लिया जाएगा तब कारोबारियों, व्यापारियों, सैनिकों व जमींदारों, कारीगरों व बुनकरों के लिए भी सहूलियतों तथा सुविधाओं का एलान बादशाह के फरमानों में कर दिया जाता था। गो हत्या प्रतिबंधित थी। मुल्लों मौलवियों व पंडितों की सुविधाओं हेतु भी एलान किया गया था।

19वीं शताब्दी में मध्य भारत क्षेत्र से 'मालवा अखबार' (1948-49 साप्ताहिक) को छोड़ कुछ गिनं चुने हिंदी अखबार निकलना ही पाए जाते हैं। तत्कालीन समय

में जब भारत में हिन्दी पत्रकारिता विकास करते हुए अपने लक्ष्य की ओर प्रवृत्त थी तब 'मालवा अखबार' ने भी अपनी ओर से प्रचुर योगदान किया। हिन्दी के प्रथम-पत्र 'उदंत मार्तंड' (1826) के लगभग 23 वर्षों बाद 'मालवा अखबार' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ था। इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि हिन्दी पत्रकारिता के प्रारंभिक काल में 'मालवा अखबार' साप्ताहिक समाचार-पत्र (जिसका चंदा सालाना 12/- रुपये हुआ करता था) का कितना योगदान रहा होगा। अपनी अनेक विशेषताओं के कारण समकालीन हिन्दी पत्रकारिता को नई दिशा प्रदान की थी इन्दौर से निकले, इस 'मालवा अखबार' ने।

इस समाचार-पत्र को, उसके संचालकों द्वारा बंद कर दिये जाने के बाद तत्कालीन होलकर महाराजा तुकोजीराव द्वितीय ने 1873 में उसे खरीद लिया था। और तब से 'मालवा अखबार' मराठी में छपने लगा था। उस समय जनसाधारण की मुख्य भाषाएँ हिन्दी व उर्दू थीं—मराठी नहीं। फलतः शनैः शनैः पत्र का संपर्क जनता से कटता गया और वह 'सरकारी' हो गया। विभिन्न सूचनाएँ, घोषणाएँ, आदेश, टेंडर, विज्ञप्तियों की संख्या की भरमार रहने लगी। 1918 तक यह चला।

'मालवा अखबार' के कुछ चुनिंदा कवरेज देखिए

1. 'दिल्ली के बादशाह के खानदान वालों ने एक अर्जी लाट साहब को भेजी है कि बादशाह को 30 रुपए महीना तथा शहजादों को 10 रुपए महावार गुजारा भत्ता मिलता है। वह बहुत कम है, उसे बढ़ाया जाए, उनकी अर्जी लाट साहब ने नामंजूर कर दी तथा लिखा कि जैसा सब लोग अपना गुजारा करते हैं वैसा तुम लोग भी करो।' (1 मई 1861)
2. "...जो अपना समय चौपड़ खेलने, नाच-गाने में बरबाद कर रहा है तथा यह हुनर सीखना नहीं चाहता।" ... "भारतीयों को यह अकल नहीं है कि विलायत से कपड़ा बनकर आता है तथा हमारा रुपया विलायत जा रहा है। हम कपड़ा इसलिए नहीं बनाते क्योंकि यह काम सिर्फ जुलाहों का है।" (2 अक्टूबर 1861) कालांतर में महात्मा गाँधी ने खुद सूत कातने तथा उससे बना कपड़ा पहनने की जिस स्वावलंबन तथा स्वदेशी की भावना को परवान चढ़ाया था उसके पीछे स्वाधीनता की कामना ही मुख्यतः काम कर रही थी।
3. नाना साहब पेशवा अपने समय में ही जीवित किवदंती बन गए थे। पढ़िए एक रोचक रिपोर्ट (14 मई 1862 के अंक से) : '...अंग्रेजी अखबारों के हिसाब से यह बात बड़ी विचित्र लगती है कि नानाराव कई दफा

मरे और कई दफा गिरफ्तार हुए। अब इनके कराची में पकड़े जाने की खबर है और यह तो तहकीकात के बाद मालूम होगा कि यह नानाराव (पता नहीं नाना साहब को समाचार पत्र ने नानाराव लिखना क्यों पसंद किया था?) है या उनकी शक्ल का कोई दूसरा आदमी है।”

4. ‘मालवा अखबार’ ने अपने (12 नवंबर 1862) एक पर्व में लिखा था—
 ...“कंपनी के शासनकाल में कंपनी और देशी राजाओं के बीच बराबरी का व्यवहार रहता था। मगर कंपनी का शासन समाप्त होने पर अंग्रेज सरकार ने यह दस्तूर बदल दिया और देशी राजाओं को इंग्लैंड की मलिका और उसके प्रतिनिधिस्वरूप वायसराय से नीचे का ओहदा दिया गया, यानी बराबरी के स्थान पर मातहती के संबंध चालू हो गए। हैदराबाद के शासक ने इसी का विरोध करते हुए सितारे हिन्द का खिताब लेने से इन्कार कर दिया था।” ऐसे और भी अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं।

‘मालवा’ में इन्दौर पत्र-पत्रिकाओं की दृष्टि से गढ़ बन गया था किन्तु वही अकेला या एकमात्र नहीं था बल्कि रतलाम से ‘रत्न प्रकाश’, सैलाना से ‘राजपूत’, नागदा से ‘प्रकाश’, धार से ‘वृत्तधारा’, देवास से ‘मालवा समाचार’, उज्जैन से ‘विक्रम’, आगर-मालवा से ‘हिन्दी सर्वस्व’, पहले अजमेर से बाद में 1940 से मंदसौर से ‘जैन-ध्वज’ (आगे चलकर यही ‘ध्वज’ बना)—आदि कई अखबार निकलने लगे थे। इन्दौर से भी—साप्ताहिक ‘दिल्ली-ई-अखबार’ (1852), ‘पूर्ण चंद्रोदय’ (1861) ‘होलकर सरकार गजट’ (साप्ताहिक 1873) ‘मल्लारि मार्तंड विजय’ (नवंबर 1915) हिन्दी के साथ ही अंग्रेजी पत्र—प्रिंसली इंडिया (1930) तथा ‘सेंट्रल इंडिया टाइम्स’ (1940), 1943 में ‘सेंट्रल इंडिया’ व ‘द मार्केट न्यूज’ (व्यापारिक पत्र) भी निकले। 1944 में ‘होलकर स्टेट वार फ्रंट’ (1944) ‘इंडियन न्यूज-क्रॉनिकल’ (1946) प्रकाशित हुए। हिन्दी के अन्य महत्वपूर्ण पत्रों में—प्रजामंडल पत्रिका (1939) साप्ताहिक अशोक (1945) ‘मजदूर संदेश’ (1946) पाञ्चजन्य (1847) नवजीवन (नासिक) 1908 में दैनिक नवजीवन 1931 में निकला था। ‘इन्दौर समाचार’ इन्दौर से निकलने वाला सबसे पुराना समाचार-पत्र रहा। 23 मार्च 1947 को दैनिक ‘जय भारत’, 12 अप्रैल 1947 को दैनिक ‘नया जमाना’ तथा 5 जून 1947 को ‘दैनिक नई दुनिया’ का शुभारंभ भी इन्दौर ही से हुआ था। इनके अतिरिक्त भी कई मासिक त्रैमासिक वार्षिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी समय-समय पर इन्दौर से होता रहा है।

मान्यता है कि जिस तरह हिन्दी (खड़ी बोली) गद्य का विकास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काल में हुआ उसी प्रकार उर्दू गद्य का विकास मिर्जा गालिब के काल

से माना गया है। यह अलग बात है कि उर्दू अफसाने की शुरुआत हिन्दी कहानी की तरह ही प्रेमचंद से मानी गई है। यकीन नहीं हो तो काज़ी अब्दुसत्तार साहब से पूछ लीजिए! पत्र पत्रिकाओं का यह सिलसिला न केवल इस युग तक भी जारी रहा बल्कि यह अधिक मुखर, प्रखर और वैज्ञानिक हुआ।

यकायक उत्तर भारत में न जाने कितने ही नगरों से विशेषकर कुलीनों, राजे-रियासतों का संरक्षण पाकर पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़-सी आ गई। यह अलग बात है कि दीर्घकाल तक तो इनमें से कुछ ही पत्रिकाएँ देश-काल, जनता, हिन्द तथा हिन्दी की सेवा कर सकीं। कहते हैं लाहौर, बंबई (अब मुंबई) और कलकत्ता (अब कोलकाता) को यदि तीन सीधी रेखाओं से जोड़ दें तो जो त्रिभुज बनेगा उसमें देश का वह समग्र एरिया आ जाएगा जहाँ से पत्र-पत्रिकाओं की यह बाढ़ आई थी। कलकत्ता व काशी (बनारस) तो गढ़ थे जहाँ से बंबई की तुलना में कई व अच्छे पत्र निकलते थे। काशी में भारतेन्दु बाबू प्रेरणा पुंज के रूप में विद्यमान थे। काशी से 'बनारस अखबार' और 'सुधाकर' पत्रों के बाद हिन्दी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका 'कवि वचन सुधा' का निरंतर प्रकाशन होता रहा। 'हिन्दी प्रदीप' ने लंबे समय तक श्रेष्ठ एवं अनुपम पठनीय सामग्री छाप कर अपना सक्रिय एवं रचनात्मक योगदान किया। 'कवि वचन सुधा' 1868 से 1885 उसका कार्यकाल रहा किन्तु आखिर में यह पत्रिका अपनी भूमिका से भटक कर एक मोहरा भर रह गई थी। 1873 में 'हरिश्चंद्र मैगजीन' निकली जो बाद में 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' नाम से निकलने लगी। किन्तु 1884 में भारतेंदु बाबू ने इसे फिर 'नवोदिता हरिश्चंद्र चंद्रिका' नाम से निकाला।

नार्मल स्कूल काशी के हेडमास्टर बालेश्वर प्रसाद ने भारतेंदु बाबू के सहयोग से 'काशी पत्रिका' निकाली। इसे 'कवि वचन सुधा' के पैटर्न पर ही निकाला गया था। प्रारंभ में इसमें भारतेंदु बाबू के कई नाटक छपे भी किन्तु बाद में यह एक स्कूली पत्रिका के रूप में सिमट गई। काशी से ही भारत जीवन, आर्यमित्र, सरस्वती विलास, तिमिर नाशक आदि अनेक पत्र निकले।

कलकत्ता एक व्यापारिक नगरी थी जहाँ के संस्कार काशी से सर्वथा भिन्न थे। ऐसे में वहाँ से पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन और भी भिन्न व कष्टकारक था। तथापि कार्तिकप्रसाद खत्री जो भारतेंदु की तरह ही घर से संपन्न, हिन्दी सेवी व संस्कारवान थे ने पैतृक धन को साहित्य सेवा में लगाया। पहले एक पत्रिका 'प्रेमविलासिनी' तथा बाद में एक साप्ताहिक पत्र निकला। किन्तु वे सफल नहीं हुए। 'भारत जीवन' में काम किया व अन्ततः 'सरस्वती' पत्रिका जब प्रारंभ हुई तो उन्हें पाँच सम्पादकों की समिति का मंत्री बना दिया गया। 1904 में इनका निधन हो गया। कलकत्ते से —हिन्दी बंगवारी, आर्यावर्त, भारतमित्र आदि प्रसिद्ध

पत्र भी निकले। भारतमित्र से अलग होकर दुर्गाप्रसाद मिश्र ने 'सार सुधानिधि' निकाला। सदानंद मिश्र इसके संपादक थे। यह पत्र बारह वर्ष तक निकलता रहा।

तब कालाकाँकर से 'हिन्दोस्तान' निकलता था। जिसे अपने समय के अनेक विद्वान व नामीगिरामी लेखकों का सहयोग प्राप्त था। हिन्दी, अंग्रेजी व उर्दू—तीनों भाषाओं में इसे निकाला जाता था। लखनऊ से 'दिनकर प्रकाश', 'रसिक पंच', 'काव्यामृतवर्षिणी', 'भारत भानु'...आदि पत्र भी निकलता करते थे। इलाहाबाद से बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' निकाला जो अपने समय का मुख्यपत्र कहा जा सकता है। 'प्रयाग-समाचार' भी वहीं से निकला। तब इन पत्रों को निकालने के लिए 'पीर, बावर्ची, भिंशी, खर' सब हो जाना पड़ता था। आज वो जच्चा कहाँ! आज तो पत्रकारिता शुद्ध व्यवसाय हो चुका है। पं. प्रताप नारायण मिश्र का 'ब्राह्मण' भी अपने समय का चर्चित एवं महत्वपूर्ण समाचार पत्र था।

अल्मोड़ा से 'अल्मोड़ा अखबार', लाहौर से 'मित्र विलास', अजमेर से 'राजस्थान समाचार' आदि। 'मारवाड़ गजट' हिन्दी उर्दू दोनों में निकलता था। बालमुकुन्द गुप्त जी के एक नोट ने तब तहलका मचा दिया था। ...उर्दू का विकास मूल रूप में हिन्दू मुसलमान प्रजा के मेल से नहीं हुआ वरन् उसे उस अहलकार वर्ग ने जन्म दिया है जिसमें हिन्दू ही प्रधान थे। इसलिए हिन्दी उर्दू के झगड़े में हिन्दू मुसलमान को भूलकर हम देश के वर्गों को याद रखें और वर्ग विभाजन की दृष्टि से उस समस्या को समझने और सुलझाने की चेष्टा करें तो हमें अधिक सफलता मिलेगी।'

उदयपुर का 'सज्जन-कीर्ति-सुधाकर' बूंदी का 'सर्वहित', रीवाँ का 'भारत भ्राता' और ग्वालियर का 'ग्वालियर गजट' मशहूर पत्र थे। जयपुर से 'जयपुर गजट' अंग्रेजी-हिन्दी दोनों में निकलता था। महिलाओं के लिए महिलाओं द्वारा कई सौदेश्य पत्रिकाएँ भी निकाली गईं। स्वयं भारतेन्दु बाबू ने स्त्री शिक्षा पर केन्द्रित 'बालाबोधिनी', श्री हरिदेवी ने 'भारत भगिनी' निकाली। श्री हेमंतकुमारी देवी ने 'सुग्रहिणी' निकाली।

गरज यह कि तब नव जागरण और स्वाधीनता संघर्ष के उस काल में साहित्य समाज व राजनीति की त्रिवेणी बंगाल, बिहार, युक्त प्रांत, बंबई, पंजाब व राजस्थान आदि से निकलने वाली सैकड़ों पत्र पत्रिकाओं में सुरक्षित बही। उसका विकास हुआ। ऐसे और भी कई प्रमाण हो सकते हैं जिन्होंने समाज की अगुआई की। क्रांति की मशाल थामी! उन्हें सामने लाना चाहिए विशेषकर दक्षिण भारत के योगदान को सामने लाने की महती आवश्यकता है। सुधीजन आगे जाएँ।

□□

भारतेंदु का साहित्य

देश में मुगल साम्राज्य के पतन ने दिल्लीश्वर को ही जगदीश्वर मान लेने की चली आ रही धारणा को नष्ट कर दिया। राजधानी दिल्ली से कलकत्ता चली गई। आरंभ में कंपनी बहादुर और बाद में राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया का साम्राज्य कायम हुआ। व्यापार, राजनीति, साहित्य-कला-संस्कृति दिल्ली से कलकत्ता की ओर प्रयाण कर चले। यद्यपि कोर्ट, कचहरियों व सरकारी कामकाज की भाषा अरबी फारसी बहुत शब्दों और पदावलियों से युक्त उर्दू ही रही किन्तु आमफहम जनभाषा का स्थान उसे कभी भी नहीं मिल सका। साहित्य के नाम पर तब तक प्रमुख रूप से काव्य ही रचा जाता रहा जो बृज, अवधी तथा मैथिली में होता था लेकिन इन भाषा-मंडलों से बाहर उसका चलन अत्यल्प ही था।

मुगल साम्राज्य के पतन से उपजे व्यापक महाप्रयाण ने हमारे समाजार्थिक परिदृश्य को नया ही मोड़ प्रदान किया। दिल्ली, आगरा आदि प्रमुख शहरों की समृद्धि नष्ट होने लगी। मीर, ईशा जैसे शायर लखनऊ, पटना, मुर्शिदाबाद को गुलजार करने लगे। दिल्ली दरबार के उजड़ने के फलस्वरूप दिल्ली तथा आसपास के प्रदेशों की प्रमुख व्यापारी जातियों ने अपना रुख लखनऊ, फैजाबाद, काशी, पटना, प्रयाग आदि शहरों की ओर किया। यही वह पीठिका है जिसने बोलचाल की भाषा खड़ी बोली हिन्दी (उस समय हिन्दुस्तानी) को न केवल फैलने में सहायता पहुँचाई बल्कि उसे लगातार मजबूत और जनप्रिय भी बनाया। धीरे-धीरे यही खड़ी बोली हिन्दी व्यवहार की आम (शिष्ट) भाषा हो गई। न तो अँग्रेजों की प्रेरणा से न ही मुसलमानों द्वारा खड़ी बोली हिन्दी हमारे गद्य की संवाहिका बनी बल्कि जनता के निरंतर व्यवहार तथा खुसरो, गंग, कबीर, जटमल आदि के काव्य में जारी साहित्य सृजन की इस जनवादी परंपरा ने ही उसे निरंतर शक्ति प्रदान की।

संवत् 1860 के आसपास अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रोत्साहन पर जिन चार महानुभावों ने हिन्दी खड़ी बोली गद्य को नियमित

1857 : इतिहास और साहित्य / 111

प्रतिष्ठा प्रदान कराने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई वे थे—मुंशी सदासुखलाल नयाज, सैयद इंशाअल्लाह ख़ाँ, लल्लूलाल गुजराती और पंडित सदल मिश्र। हालाँकि हिन्दी गद्य की अखंड परंपरा चली 1857 ई. में हुए पहले स्वतंत्रता संग्राम के बाद। बीच की इस अवधि में गद्य-रचना की दृष्टि से उल्लेखनीय काम नहीं हुआ।

राजा शिवप्रसाद सितारा-ए-हिन्द की प्रेरणा और गोविन्द रघुनाथ धत्ते के संपादकत्व में 1845 ई. में काशी से 'बनारस अखबार' शुरू हुआ जिसकी भाषा उर्दू बहुल किन्तु लिपि देवनागरी थी। इन सब कार्रवाइयों से राजा साहब का हिन्दी के प्रति प्रेम तो अवश्य लक्षित हो रहा था किन्तु कालांतर में उर्दू के प्रति जो लगाव और राजभक्ति का प्रदर्शन हमें उनमें देखने को मिलता है तब वह प्रच्छन्न व आरंभिक अवस्था में ही था। इसमें शनैः-शनैः वृद्धि ही होती गई। परिणामस्वरूप जन भावनाओं को वाणी प्रदान करने तथा हिन्दी का समुचित हित साधन करने की दृष्टि से लेखकों व पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़-सी आ गई। काशी उनका केंद्र बना।

हिन्दी के प्रचार-प्रसार में उस समय के सामाजिक व धार्मिक आंदोलनों तथा स्वतंत्रता संग्राम ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस दृष्टि से बाबू नवीनचंद्र राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हिन्दी का रूप स्थिर होने लगा था। जनता के साधारण व्यवहार की भाषा, जन भाषा के रूप में उसे प्रतिष्ठा दिलाने में ये सारी कोशिशें सार्थक सिद्ध हुईं।

वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक बाबू भारतेन्दु हरिश्चंद्र का उदय इन्हीं परिस्थितियों में हुआ। देशकाल की आवश्यकता के अनुरूप साहित्य रचना का तब कोई व्यापक अभियान नहीं हुआ था। हालाँकि बंगाल में नए ढंग के नाटकों, उपन्यासों आदि का आगमन हो चुका था। नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों के मन और विचार बदलने लगे थे। देश हित, सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध संघर्ष, स्वदेशी के प्रति अनुराग आदि नई उमंगें उनमें जागने लगी थीं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने शक्ति-भर दोहन इस नव जागरण का किया और उसे जनता के व्यापक हितों के साथ जोड़ कर नई दिशा प्रदान की।

अपने परिवार के साथ 1865 ई. में संपन्न जगन्नाथ पुरी की यात्रा में उन्हें अपने समय और समाज को समझने में काफी सहायता मिली। फिर तो वे प्रायः वैलगाड़ी से आंचलिक दौरों पर निकल जाया करते थे तथा जनता के दुःख दर्द को उसकी गहराई में जाकर देखते, समझते व लिखते। ग्राम साहित्य के बारे में उन्होंने स्पष्ट आद्धान किया 'उत्साही लोग इसमें जो बनाने की शक्ति रखते हैं वे बनाएँ, जो छपवाने की शक्ति रखते हैं वे छपवाएँ और जो प्रचार की शक्ति रखते हैं वे प्रचार करें।'।

भारतेन्दु बाबू का जन्म 9 सितंबर 1850 को काशी के एक संपन्न वैश्य परिवार में हुआ। यद्यपि वे तब एक विशाल आंदोलन के केंद्र में थे लेकिन नेता की तरह नहीं अपितु एक सहकारी की भाँति। हर एक के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर छोटे से छोटा काम करने को तत्पर। सोलह वर्ष की उम्र से ही वे सक्रिय लेखन में जुट गए थे। अपने जीवन काल में ही अपनी लेखनी तथा लेखनगत गतिविधियों के माध्यम से राजा शिवप्रसाद सितारा-ए-हिन्द को जबरदस्त टक्कर दी।

भारतेन्दु की सक्रिय, उदार व प्रोत्साहनकारी नीति से हिन्दी को अनेक समर्थ लेखक मिले। अच्छा-खासा समूह तैयार हो गया जो बाद में 'भारतेन्दु मंडल' के नाम से जाना गया जिसने जनता के संवेगों का पूरी तरह सम्मान करते हुए, देशभक्तिपूर्ण जनवादी साहित्य की जीवंत परंपरा को समृद्ध किया। उपाध्याय पंडित बद्रीनारायण चौधरी प्रेमधन, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त, पंडित राधाचरण गोस्वामी, कार्तिक प्रसाद खत्री, काशीनाथ, बाबू तोताराम, गरज ये कि एक लंबी शृंखला जन-लेखकों की थी। इसी प्रकार सारसुधानिधि, भारत मित्र, हिन्दी प्रदीप, प्रयाग-समाचार, ब्राह्मण, भारतेन्दु जैसी अनेक पत्र-पत्रिकाएँ अपनी जनाभिमुख प्रगतिशील भूमिका निवाह कर लोकतंत्री मूल्यों को बल पहुँचा रही थी।

1852 ई. में आगरा से 'बुद्धिप्रकाश' नाम से निकले एक पत्र ने स्त्री शिक्षा को लक्ष्य करके लिखा था कि—“स्त्रियों में संतोष और नम्रता और प्रीत यह सब गुण कर्ता ने उत्पन्न किए हैं, केवल विद्या की न्यूनता है, जो यह भी हो तो स्त्रियाँ अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं और लड़कों को सिखाना पढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है वैसा दूसरों से नहीं। यह काम उन्हीं का है कि शिक्षा के कारण बाल्यावस्था में लड़कों को भूलचूक से बचाएँ और सरल-सरल विद्या उन्हें सिखाएँ।”

भारतेन्दु बाबू ने 1868 ई. में 'विद्यासुंदर' नाटक का बंगला से अनुवाद किया। तब तक बंगला में प्रकाशित गोरे निलहे साहबों के पाशविक शोषण की पोल खोलने वाला दीनबंधु मित्र का नाटक 'नील दर्पण' काफी खलबली मचा चुका था जिसे 1861 में ही एक गोरी अदालत का कोपभाजन बनना पड़ा। लिखने, खेलने, निर्देशित करने वाले सभी को दंड और प्रतिबंध झेलना पड़ा।

बंगला में मुखर विद्रोह के स्वर हिन्दी में नए देशभक्तिपूर्ण मूल्यों को प्रतिष्ठा दिला रहे थे। इस दौर में अनुवाद कार्य ने काफी उल्लेखनीय भूमिका निभाई। 1873ई. में भारतेन्दु बाबू ने पहला मौलिक नाटक 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' लिखा जो धर्म व कर्मकांडों के खोखलेपन को उजागर करने वाला सशक्त प्रहसन था। फिर तो कर्पूरमंजरी, सत्य हरिश्चंद्र, चंद्रावती नाटिका, भारत दुर्दशा, अन्धेर नगरी, नीलदेवी आदि ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक विषयों को लक्ष्य करके अनेक

नाटक लिखे। भारतेन्दु मंडल के अन्य सहयात्री लेखकों ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय योगदान किया। बाबू तोताराम, श्रीयुत श्रीनिवास दास, कार्तिक प्रसाद खत्री, काशीनाथ, पंडित राधाचरण गोस्वामी लगभग सभी ने नाटक, प्रहसन, रेडियो के फीचर कार्यक्रमों हेतु रोचक शैली में रचनाएँ कीं। पंडित राधाचरण गोस्वामी द्वारा लिखित 'बूढ़े भूँह भूँहासे' पर तो डॉ. रामविलास शर्मा अत्यंत मुग्ध रहे हैं तथा मानते रहे कि एक वैष्णव संस्कारों में पले रचनाकार ने पहली बार हिन्दू-मुस्लिम समस्या को संकीर्ण जातीय चश्मे से नहीं वरन् उदार वर्गीय आधारों पर लिखा।

भारतेन्दु से पूर्व, हिन्दी में नाटकों की परंपरा प्रायः थी ही नहीं और ऐसे नाटक जिनमें जन-समस्याओं को विषय बनाया गया हो लिखना, लिखकर खेलना बहुत बड़े जोखिम का काम था। भारतेन्दु बाबू तथा उनके साथी रचनाकारों ने न केवल यह जोखिम उठाया बल्कि पारसी थिएट्रिकल कंपनी की ओर से प्रस्तुत की जाने वाली चुनौतियों का सामना भी किया। तब न केवल नाटक लिखे गए बल्कि उन्हें खेलने की परिपाटी भी डाली गई। स्वयं अभिनय भी किया, आलोचनाएँ सही किन्तु लोकतंत्री मूल्यों की स्थापना व वृद्धि में अपना अटूट योगदान किया। उनका पुण्य स्मरण करते हुए समर्पण और रचना के उस आदर्श को रचनाकारों में आज भी स्फूर्ति जगाने के लिए हम पर्याप्त मानते हैं।

हिन्दी और उर्दू से भी उच्च कोटि का राष्ट्रीय साहित्य बंगला और मराठी में आया। 'राज भक्ति' कोई नई अथवा अनोखी बात नहीं थी प्रायः पायी जाती रही है। खुद गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी अतिशय विनम्र रहे हैं महारानी विक्टोरिया तथा उनके शासन के प्रति। तथापि देखना यह होगा कि 'राज-भक्ति' के रहते हुए भी कोई व्यक्ति उस विपरीत वातावरण में देशभक्ति की बात कितनी और किस खूबी से कर सका है। क्योंकि ऐसा कर पाना तब किसी चुनौती से कम नहीं था। बंगला में बंकिम, मराठी में चिपलुणकर, गुजराती में नर्मद और तमिल के भारती, हिन्दी के भारतेन्दु, उर्दू के हाली, आजाद, नज़ीर आदि ने उस चुनौती को बखूबी निभाया था।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र (1850-1885) तो स्वयं एक मध्यकालीन दरबारी वातावरण में पले थे। उनका घर किसी दरबार से कम नहीं था। जिसके वे स्वयं बादशाह थे। उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र, सरकार के कृपा-पात्र थे। जबकि भारतेन्दु हिन्दी में नवीन राष्ट्रीय चेतना लाने वाले न केवल एक साहित्यकार ही थे वरन् वे स्वदेशी आन्दोलन के अग्रदूत और प्रसिद्ध समाज सुधारक भी थे। अंग्रेजों की माया तथा धन-बल और चालों को वे खूब समझते थे।

भारतेन्दु के साहित्य में ही नहीं वरन् उस काल व मंडल पर 'लोक रंग' सवार था। लोक रूप यथा—होली, कजली, आल्हा, पहेली, कवित्त, दोहे, छन्द में साहित्य रचा जाता था। इस काल में नाटकों का खूब योगदान रहा। न केवल नाटक लिखे गये वरन् अनुवाद भी हुए। भारतेन्दु तो स्वयं नाटक खेलते भी थे। उन्होंने अपने समय में गद्य की भाषा को परिमार्जित भी किया। उन्हें वर्तमान हिन्दी गद्य का प्रवर्तक भी माना गया है। जैसे मिर्जा गालिब को उर्दू गद्य का पुरोधा माना गया है। हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे भारतेन्दु बाबू ने अपने मंडल के लेखकों के साथ मिलकर पाटने के संयुक्त प्रयास किये थे। उनके समय में अनेक प्रबुद्ध पत्रिकाएँ भी अपना विनम्र योगदान साहित्य के प्रचार-प्रसार तथा उसको लोकोन्मुख बनाने में करती रहीं। उनके नाटकों भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी, वैदिकी हिंसा..., नील देवी आदि ने न केवल उस जमाने में सत्ता के लिए मुसीबतें खड़ी कीं बल्कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, आपातकाल के दिनों में भी 'अंधेर नगरी' सरकार का सरदर्द बनी थी। इन रचनाओं की जीवंतता, लोक-तत्व, मारक अथवा प्रतिरोधी क्षमता ही उनकी प्रासंगिकता को आज भी बनाए हुए है। हम यहाँ कुछ चुनिंदा रचनाओं के जरिए अपनी बात कहने की कोशिश करेंगे।

महारानी विक्टोरिया के प्रति विश्वास प्रकट करते हुए भी भारतेन्दु बाबू कहने से नहीं चूकते देश का धन विदेश जा रहा है, महंगाई दुर्भिक्ष और महामारी का प्रकोप हर तरफ नजर आ रहा है उस पर भी तरह-तरह के टेक्स लगाकर, महारानी की सरकार भारत को तबाह करने से बाज नहीं आ रही। देखें एक 'आल्हा'—

संवत उनइस सौ तिरपन मा, पड़ा हिन्द में महा अकाल।
घर-घर फाके होने लागे, दर-दर प्राणी फिरें बेहाल।।

गेहूँ चावल सावाँ मकरा, सबै अन्न एक भाव बिकाय।
बिन पैसा सब छाती पीटे, अब तो हाय रहा नहीं जाय।।

कोई पात पेड़न कै चाबै, कोई माटी कोई घास चबाय।
कोई बेटवा बिटिया बेचें, अब तो भूख सही नहीं जाय।।

कोई घर-घर भीखों माँगें, कोई लूट पाट के खाँय।
बहुत लोग जो अन्न देत हैं, राम निहोरे करैं सबाब।।

बहुत लोग देते हैं फाँसी, अरु मलिका से चहें खिताब ।
सी.एस.आई., के.एस.आई., राय बहादुर केर खिताब ॥

इसी क्रम में एक 'होली' देखिए—

डफ बाज्यो भरत भिखारी को
केसर रंग गुलाल भूलि गयो,
कोउ पूछत नहिं पिचकारी को ।
बिन धन अन्न लोग सब व्याकुल,
भई-कठिन विपत नर नारी को ।
चहुँ दिसि काल पड़्यो भारत में,
भय उपज्यो महामारी को ।

'भारत दुर्दशा' नाटक में भारतेन्दु बाबू ने अंग्रेजों (रानी विक्टोरिया) के राज को भारत दुर्देव तथा राक्षस तक कह डाला है। 'भारत दुर्देव' खुद को परिचित कराते हुए कहता है—

'मरी बुलाऊँ देस उजाड़ूँ, महंगा करके अन्न ।
सबके ऊपर टिकस लगाऊँ, धन है मुझको धन्न ।
मुझे तुम सहज न जानो जी,
मुझे इक राक्षस मानो जी ।'

नाटक का सार यह है कि 'भारत दुर्दशा' का कारण 'भारत दुर्देव' ही है। उसके कामों से ही उसे आसानी से पहचाना जा सकता है कि इस राक्षस का वास्तविक नाम कुछ और नहीं 'अंग्रेजी राज' ही है।

'अंधेर नगरी' नाटक में चूरन वाले के लहजे में एक व्यंग्य, सीधा प्रहार कुछ इस अंदाज में करता है—

चूरन अमले सब जो खावैं, दूनी रिश्वत तुरत पचावैं ।
चूरन नाटक वाले खाते, इसकी नकल पचा कर लाते ॥

चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हजम कर जाते ।
चूरन खाते लाला लोग, जिनके अकल अजीरन रोग ॥

चूरन खावैं एडिटर जात, जिनके पेट पचै नहिं बात ।
चूरन साहेब लोग जो खाता, सारा हिन्द हजम कर जाता ॥

चूरन पुलिस वाले खाते, सब कानून हजम कर जाते।
ले चूरन का ढेर, बेचा टके सेर।

‘अंधेर नगरी’ में टके सेर भाजी, टके सेर खाजा है। पंडित मूर्ख सब एक ही भाव तोले जाते हैं। जन साहित्य में यह एक आदर्श नाटक है। आपातकाल में भी इस नाटक का प्रसारण सत्ता का कोप-भाजन बन चुका है। यह क्या इसकी कम मारक क्षमता है कि हर तानाशाह उसे अपने पर हमला मानता है। अंग्रेज, अंग्रेजी, कानून, पुलिस आदि कई को भारतेन्दु बाबू ने हँसी-हँसी में पहेलियों के माध्यम से अपने तीक्ष्ण व्यंग्य का निशाना बनाया है। देखिए उनमें से कुछ पहेलियाँ—

भीतर-भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन-मन-धन मूसै
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन, नहीं अंगरेज।

सब गुरुजन को बुरो बतावै, अपनी खिचड़ी आप पकावै।
भीतर तत्व न, झूठी तेजी, क्यों सखि सज्जन, नहीं अंगरेजी।

नई-नई नित तान सुनावै, अपने जाल में जगत फँसावै।
नित-नित करै हमें बल सून, क्यों सखि सज्जन, नहीं कानून।

रूप दिखावत सरबस लूटै, फंदे में जो पड़े न छूटे।
कपट कटारि जिय में हुलिस, क्यों सखि सज्जन, नहीं पुलिस।
तीन बुलाए तेरह आवै, निज-निज विपदा रोई सुनावै।
आँखों फूटे भरा न पेट, क्यों सखि सज्जन, नहीं ग्रेजुएट।

मतलब ही की बोलै बात, राखे सदा काम की घात।
डोलै पहिने सुन्दर समला, क्यों सखि सज्जन, नहीं सखि अमला।

भारतेन्दु, ब्रिटिश सरकार के कोप-भाजन थे। आँखों की किरकिरी। उनकी पत्रिकाएँ खरीदना तत्कालीन सरकार ने बंद कर दिया था। बाढ़ पीड़ितों के लिए उन्होंने बैलगाड़ी में बैठकर देश की वास्तविक दशा देखी थी तथा बाढ़ पीड़ितों के लिए ही उन्होंने हाथ में नारियल लेकर भीख माँगी थी। इसीलिये वे युग साहित्य को जन साहित्य बनाने में सफल हुए। भारतेन्दु युग के साहित्य की सबसे बड़ी खूबी यही है कि वह जनता का साहित्य है। और 1857 जनता द्वारा मुक्ति की

1857 : इतिहास और साहित्य / 117

कामना के साथ छेड़ा गया महाविद्रोह/अपराईजिंग था जिसमें ग्रामीण, किसान, शहरी गरीब, बुनकर, कारीगर, भील-भिलाले, बंजारे, नायक, आदिवासी, गृहस्थ, संन्यासी, कोटवार, चौकीदार, दुर्ग रक्षक, हिन्दू मुस्लिम सिपाही, स्त्री-पुरुष, बच्चे, बूढ़े, युवक, सभी का प्रतिनिधित्व था। तब ऐसा कैसे हो सकता है कि कोई संवेदनशील रचनाकार 1857 में रहते और जीते हुए कौमी-संघर्ष से कटा कटा रहे, उसकी न केवल अनदेखी करे बल्कि इस संघर्ष को गरियाए? शहंशाह के तीनों बेटों की गर्दन काटकर उन्हें अंग्रेजों ने जब तोहफे में पेश कर दी थी तब न तो वे विचलित हुए न ही उन्होंने आत्महत्या ही कर ली! स्वाधीनता संघर्ष जारी रहा और न केवल कंपनी राज को बल्कि महारानी के शासन को भी अंततः जाना पड़ा। आज हम आजाद हैं। सरकार अपनी है। पूर्ण स्वतंत्रता, आत्म-निर्भर समाज और वर्ग विहीन राज्य के लिए हम आज भी संघर्षरत हैं। आमीन!



प्रभाव जो नोट किए गए!

1857 की वह 'जन-क्रान्ति' तो विफल हो गई किन्तु उसका असर यह हुआ कि भारत से ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कंपनी को अपना बोरिया बिस्तर समेटकर जाना पड़ा। कंपनी की जगह ब्रिटिश राज की कमान महारानी विक्टोरिया के हाथों में चली गई। पं. जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक—'भारत एक खोज' में बहुत ही स्पष्ट तौर पर लिखा कि—“यद्यपि (1857 की) यह क्रान्ति देश के कुछ ही भागों तक सीधे सम्बद्ध थी पर इसने पूरे देश को आलोड़ित विलोड़ित करके रख दिया था। खासतौर से ब्रिटिश प्रशासन को।” परिणामस्वरूप 1860 में अनेक प्रशासनिक सुधार लाये गए।

इस अध्याय में हमने सांकेतिक रूप में यह पता लगाने की कोशिश की है कि 1857 की विफलता के बाद व 1947 की स्वाधीनता से पहले भाषा, संस्कृति, वास्तुशिल्प, चित्रकारी, रंगमंच और साहित्य, विषय, वस्तु और रूप मोटामोटी तौर पर किस तरह प्रभावित हुए, इन पर क्या प्रभाव पड़ा? मसलन अब तक चले आ रहे काव्य से आगे गद्य का आविर्भाव हुआ। नाटक और उपन्यास आए। मोगल मिनिएचर की जगह पहाड़ों से उतरे कांगड़ा शैली मिनिएचर्स ने ले ली। गहरे रंग हल्के, चमकदार व लोक संपृक्त हुए। जनाभिमुख हुई कला। वास्तुशिल्प में परिष्कार आए। थियेटर की स्थापना, उन्नयन और विकास हुआ। आदि...यद्यपि अगले कथन और विश्लेषण को प्रारंभिक, सांकेतिक और परिचयात्मक रूप में ही लिया जाए।

1857 की विफलता के बाद यदि व्यापक नजरें घुमाएँ तो परिदृश्य में कई बदलाव नजर आते हैं। कला-साहित्य-इतिहास के रूप बदले उनका विकास हुआ। भाषाएँ, बोलियाँ भी समृद्ध हुईं। अंतिम मुगल-बहादुरशाह पर मुकदमे और उनके निर्वासन ने मानो सारे आश्रय यकायक गिरा दिए। कविता या शायरी अचानक गद्य की ओर मुड़ गई। हिन्दी और उर्दू गद्य की शुरुआत का समय लगभग यही

1857 : इतिहास और साहित्य / 119

रहा। ग़ालिब जहाँ उर्दू गद्य के पुरोधा माने गए वहीं हिन्दी गद्य की शुरुआत भारतेन्दु बाबू से मानी गई है। ताज़ा मान्यता जो हिन्दी उर्दू के मान्य विद्वानों के बीच बनी है वह लगभग इसी कार्यकाल के इर्दगिर्द घूमती नजर आती है।

गद्य लेखन में भी पत्रकारिता, पत्रों के संग्रह (अधुनातन विचारों को लेकर) जैसे सर्वथा नए रूप उभर कर सामने आए। एस्ट्रोनामी-अंक/खगोल विद्या का खूब विकास हुआ। जयपुर के राजा जयसिंह के योगदान को सदैव सम्मान से याद किया जाएगा जिन्होंने न केवल जयपुर में बल्कि दिल्ली, मथुरा, उज्जैन और वाराणसी में भी वैद्य शालाओं का निर्माण कराया।

कंपनी राज की समाप्ति तथा विक्टोरिया राज के आगमन ने अठारहवीं सदी के अंत तथा उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भारतीय कला-साहित्य-इतिहास, ज्योतिष-आकिटेक्चर-ज्ञान, विज्ञान के क्षेत्र पर व्यापक प्रभाव डाला। समाज सुधार, रूढ़ियों व कुप्रथाओं से मुक्ति के साथ ही भारत एक स्वतंत्र लोकतांत्रिक व सुदृढ़ राष्ट्र बनने की दिशा में आगे बढ़ा। एक स्वतंत्र, लोकतांत्रिक, सार्वभौम राष्ट्र के रूप में विश्वपटल पर भारत का उदय इसी अवधि की महत्वपूर्ण घटना है।

भारत की विभिन्न साहित्यिक भाषाएँ इस अवधि में खूब विकसित व समृद्ध हुईं। हालांकि थीम (विचार या अन्तर्वस्तु) तथा विषय परंपरागत विविधताओं पर ही टिके रहे। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में पत्रकारिता क्षितिज पर उभरी। यह लगभग नया क्षेत्र, विधा और विकास था जो उदित हुआ। साहित्य, बहुभाषी हो चला था। उर्दू, मराठी बांग्ला तमिल आदि भाषाओं में साहित्य-सशक्त, समृद्ध और लोकप्रिय होता गया।

उर्दू कविता का स्वरूप परंपरागत ही था। 1713 से 1781 में सौदा ने शुरुआत की। 1725-1810 मीर तक मीर गीति-धारा के कवि का जमाना रहा। 1740 से 1830 नजीर अकबरावादी का समय रहा। जिन्होंने किसी भी चौहद्दी (कोर्ट) में रहने से इंकार कर दिया। वे आगरा में शिक्षक थे इस नाते भी जनता के सीधे सम्पर्क में थे। वे मुसलमानों के धार्मिक जलसों व उत्सवों में खूब शरीक होते थे पर हिन्दुओं से उनकी सहानुभूति थी और लीलाबन्धु कृष्ण उनके प्रिय सरोकार रहे। लोक भाषा और जनप्रिय शैली को उन्होंने अपनाया था।

1796 से 1869 की अवधि मिर्ज़ा ग़ालिब की रही जो उस समय तक के उर्दू के सबसे बड़े, महान शायर थे जिन्होंने उर्दू गद्य की भी शुरुआत की। नए शब्द गढ़े भाषा को समृद्ध किया। कलकत्ता में अंग्रेजों द्वारा खोले गए फोर्ट विलियम कॉलेज को यद्यपि उर्दू गद्य के प्रसार का श्रेय दिया जाता रहा है जैसे कुछ विद्वान् हिन्दी गद्य का आविर्भाव भी वहीं से मानते हैं। वैसे उर्दू गद्य के पाठ्यक्रम की

शैक्षणिक पुस्तकें आदि बनाने का काम वहाँ खूब हुआ। कई कहानियाँ, अफसाने उर्दू गद्य के विकास में मील का पत्थर साबित हुए। लगभग 50 पुस्तकें उर्दू गद्य की कॉलेज से प्रकाशित हुईं जो उपलब्धि थी।

पवाड़ा-मराठी में इस अवधि के दौरान, असंख्य लिखे गए व सामने आए। शिवाजी के समय से महाराष्ट्र के इतिहास में ये धड़कते रहे हैं। उस काल के प्रमुख कवि राम जोशी (1758 से 1812) आनन्द फन्दू (1744 से 1819) रहे। यहाँ भी मराठी गद्य का उदय महत्वपूर्ण घटना रही। मराठी साहित्यिक गद्य के विकास में बाल शास्त्री जाम्भेकर का अविस्मरणीय योगदान रहा। मराठी साहित्य में सामाजिक मुद्दों पर उनका लिखा—‘आंग्ल-मराठी-जर्नल—बॉम्बे दर्पण’ में 1832 में सामने आया। 1843 में रामकृष्ण विश्वनाथ की एक पुस्तक सामने आई—‘भारतीय परिदृश्य—अतीत और वर्तमान’ तथा ‘प्रभाकर’ में 1848-50 में छपा उनका लेखन ‘लोकहित वादी’ सामने आया। 1840 में लेखों की एक शृंखला अलग ही अंक के रूप में सामने आई ‘शतपत्र’ शीर्षक से। नवविचार इस तरह लीक से हटकर उजागर हुए। नए मुहावरे भी सामने आए और तब वह तत्कालीन साहित्य की, बहुत ही विकसित साहित्य की भाषा के रूप में उदित हुई। दाओबा पाण्डुरंग (1814 से 1882) एक सशक्त वैयाकरणिक के रूप में प्रसिद्ध हुए।

बांग्ला साहित्य में विषय और रूप तो तब परंपरागत ही थे लेकिन साहित्य की भाषा विकसित हो रही थी। वर्णनात्मक व सोफेस्टिकेटेड काव्य का स्वरूप था। समानान्तर, विविध और परंपरागत किन्तु चरित्र वास्तविकता के अधिक करीब हुआ करते थे। इस अवधि के कुछ प्रमुख कवि थे रमाप्रसाद सेन (1718-1775) भरतचन्द्र रॉय (1712 से 1760)। भरतचन्द्र रॉय की कविता ‘विद्या सुंदर’ जो मूलतः दो प्रेमियों पर रची गई थी ने तब खासा ध्यान खींचा था। देश-विदेश के विद्वानों ने उनका नोटिस लिया था—उसका रशियन अनुवाद भी हुआ। इसमें संगीत तथा नाटकीयता का प्रचुर समावेश था। जहाँ तक बंगाली गद्य का प्रश्न है राजा राममोहन रॉय के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। ‘संवाद कौमुदी’ नाम के एक पत्र (जर्नल) की आधारशिला भी उन्होंने रखी। समाज के विभिन्न पहलुओं पर कई लेख लिखे। हिन्दुत्व को लेकर अनेक पूर्वाग्रहों व अंधविश्वासों के विरुद्ध उन्होंने लिखा। गद्य का यह प्रवाह जिसे राजा राममोहन राय जैसे समर्थ विचारक व लेखक ने प्रारंभ किया था उन्नीसवीं सदी के दूसरे अर्ध में गति पा सका। प्रवाह, धारा बनकर बह निकला।

दक्षिण भारत में सर्वाधिक विकसित साहित्य-तमिल साहित्य रहा है। संस्कृत लेखन की ‘कमेण्ट्री’ वाली मध्ययुगीन परंपरा यहाँ निरंतर चली आ रही थी। इसमें

भारत के गौरवशाली अतीत का स्मरण किया जाता था। कॉन्स्टेन्जियो वेस्ची (1680 से 1746) ने अठारहवीं सदी के प्रथम चौपदे में—तमिल गद्य के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वीरम मणी के अधीन रहते हुए ईसाई विषयों पर उन्होंने ढेर कार्य किया। उनकी परीकथाओं के संग्रह ने तब धूम मचा दी थी। भक्ति धारा के महत्वपूर्ण तमिल कवि थे तैयूमानावर। उन्होंने शैव भक्ति की साधना की। मनुष्यों के बीच समानता पर उन्होंने जोर दिया। ये ही विचार उन्नीसवीं सदी के मध्य तक आगे भी विकसित हुए—सुंदरम पिल्लई व रामलिंग स्वामी (1823 से 1874) का लेखन उसका श्रेष्ठ उदाहरण है। रामलिंग स्वामी ने तो कहानियाँ भी लिखीं जिसने तमिल गद्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अरुमुगा नावलर (1822 से 1874) इस अवधि में मुख्य गद्य लेखक के रूप में ख्यात हुए। तमिल में उपन्यास का आगमन उन्नीसवीं सदी के दूसरे अर्ध में ही हुआ।

अठारहवीं सदी में नाट्य अवसान की ओर तो नहीं था किंतु कुछ पठनीय नाटकों के अलावा रंगमंच के लिए नाटक लिखे जाने लगभग समाप्त होते जा रहे थे। 1757 में कंपनी द्वारा कलकत्ता में एक थियेटर की स्थापना की गई। यह ब्रिटिशर्स के लिए था जहाँ स्थानीय भारतीय प्रस्तुति नहीं दे सकते थे। 1795 में भारतीयों के लिए एक और थियेटर खुला जिसने मील के पत्थर की भूमिका निभाई। जर्जिम लेबदेव जो एक रशियन भारतविद् तथा संगीतज्ञ भी थे—ने यह पुण्य कार्य किया था। उन्होंने भारत में बारह वर्ष व्यतीत किए। इस दौरान उन्होंने संस्कृत, बांग्ला व हिन्दुस्तानी भाषाओं का अध्ययन किया। 1831 में पी. ठाकुर ने हिन्दू थियेटर की स्थापना की जहाँ नाटक इंग्लिश में खेले जाते थे। उन्नीसवीं सदी के चौथे दशक तक तो कलकत्ता में कई थियेटर आ चुके थे। इन्होंने बांग्ला में प्रस्तुतियाँ देना भी प्रारंभ कर दिया था। तब तक हिन्दी व मराठी रंगमंच भी न केवल स्थापित हो चला था बल्कि विकसित भी होने लगा था।

मुगलकालीन भवन शैली और वास्तु शनैः शनैः लोप होता गया। नए प्रकार, नई तकनीक और नया कल्पना कौशल क्षितिज पर न केवल दस्तक दे रहा था बल्कि आने भी लगा था। नए शहरों का उदय हो रहा था जहाँ भवन गलियाँ, सड़कें, पुल आदि नया अनुभावन देने लगे थे—जयपुर उसका श्रेष्ठ उदाहरण था। उसमें भी राजा जयसिंह द्वारा बनवाया गया—हवा महल! ऐसा ही दूसरा शहर था—लश्कर जो 1812 में स्थापित हुआ था ग्वालियर की नई राजधानी के रूप में। उत्तर भारत में लखनऊ-अवध के नवाब की राजधानी हुआ करता था। अठारहवीं शताब्दी में ही—भवनों का संकुल जिसमें महल, मस्जिद, मकबरे आदि अवध के नवाब व नॉबल्स की सहूलियत को ध्यान में रखते हुए शामिल किये गए थे। छोटा इमामबाड़ा व

बड़ा इमामबाड़ा—प्रार्थना स्थल थे। बनारस के कई मंदिर, गंगा किनारे के कई घाट, धर्मशालाएँ आदि भी बने। महारानी अहिल्याबाई होलकर को इस दृष्टि से आदरपूर्वक याद किया जाता है। अहमदाबाद में जैन मंदिर (1844-1848) बीकानेर के एक धनाढ्य व्यापारी द्वारा बनवाया गया जो चार मंजिला था जिसमें शानदार नक्काशी व सजावट की गई थी। अमृतसर स्थित स्वर्ण मंदिर भी इसी श्रेष्ठ वास्तुकौशल का प्रमाण है (जो 1764 या 1766 में बना), दिल्ली की सफदरजंग मस्जिद (1773) आदि इसी अवधि में यूरोपियन शैली का निर्माण भारत में बंगाल से शुरू हुआ (हालाँकि दक्षिण भारत में कुछ चर्च पुर्तगाली शैली में तो कुछ डच वेयर हाउसेस सत्रहवीं शताब्दी में ही बन चुके थे) रोमन, ग्रीक, और भी कई उदाहरण गिनाए जा सकते हैं।

इसी कालावधि में पेंटिंग्स में मोगल मिनिएचर्स का प्रसार हुआ। यद्यपि उनमें पुरातन प्रतिध्वनियाँ ही गूँजती सुनाई देती थीं पर रंग चटख व चमकीले होते गए। अधिकांश मिनिएचर्स तो सजावट के ही काम आते थे। आधी सदी के बाद ये प्रायः विलुप्त होने लगे। चित्रकारी जम्मू, चम्बा, मंडी, कांगड़ा और टिहरी गढ़वाल जैसे 'पहाड़ी' क्षेत्रों से मिनिएचर्स लाई। कांगड़ा स्कूल उनमें सर्वख्यात रहा। मोगल मिनिएचर्स के मुकाबले कांगड़ा शैली का विषय हिन्दू देवी-देवता विशेषकर कृष्ण बने। बचपन में कृष्ण, बाँसुरी बजाते/धेनु चराते कृष्ण, गोपियों के साथ रास रचाते कृष्ण—श्याम वर्ण में चित्रित हुए इस शैली में। राजपूत शैली की बड़ी-बड़ी आँखें, कतार और समूह में खड़े लोग प्रायः रात्रि का चित्रण दूसरी मुख्य विशेषताएँ थीं। आसमानी, स्वर्ण ब्राउन आदि रंगों का ही उपयोग प्रायः होता था। कांगड़ा शैली के मिनिएचर्स किसी 'कोर्ट' के लिए न होकर किसानों व जनसाधारण के लिए होते थे। अठारहवीं सदी के समाप्त होते होते और भी बदलाव हुए। ईश्वर का भी साधारणीकरण हुआ। उसे मनुष्य में देखा जाने लगा। कला जनाभिमुख और यथार्थवादी होती गई। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में चित्रकारी कला से अधिक क्राफ्ट थी।

□□

1857 : लील गया बाज़ार

हमें अपने इतिहास को जानने का पूरा हक़ है। नई पीढ़ी भी जाने कि आज जिस खुशहाल और विकासशील भारत में वे साँस ले रहे हैं, सपने संजो रहे हैं और उन्हें पूरा करने में जुटे हैं, वह भारत कितनी कुर्बानियों, त्याग व संघर्षों के बूते खड़ा हुआ है, यह उन्हें जानना चाहिए। हमारी नई पीढ़ी तो 1947 को ही ठीक से नहीं जानती तो 1857 तो बहुत दूर की बात है! जो थोड़ा बहुत जानते भी हैं वे 1857 को महज़ 'ग़दर' मानकर अनदेखी कर देते हैं और 1947 की आज़ादी को वे गाँधीजी का करिश्मा मानते हैं कि जिन्होंने शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य को सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह और स्वदेशी के बल पर चलता किया और देश को आज़ाद करा लिया। 'दे दी हमें आज़ादी बिना खड़ग बिना ढाल, सावरमती के संत तूने कर दिया कमाल...' कवि प्रदीप का यह गीत खूब वजता रहा है। आज भी वजता है। वह शक्तिशाली साम्राज्य इस चरखा कातने वाले बाबा से डरकर अपना बोरिया बिस्तर बाँध कर चला गया!

1857 के सौ साल जब पूरे हुए थे तब 1957 में एक उत्साह पूर्ण माहौल में इस जनविप्लव की शताब्दी को मनाया गया था। देश स्तर पर भारत सरकार ने सुरेन्द्रनाथ सेन को इतिहास की एक पुस्तक लिखने का दायित्व सौंपा था ताकि सम्पूर्ण आन्दोलन का ठीक-ठीक एवम् सही दस्तावेजीकरण हो सके। तब के शिक्षा मंत्री स्वयं मौलाना अब्दुलकलाम आज़ाद ने इस पुस्तक की एक लम्बी भूमिका लिखते हुए 1857 के प्रति एक प्रामाणिक वक्तव्य दिया था। राज्य स्तर पर भी इतिहास कमेटियों का गठन हुआ था और अपने-अपने राज्य में घटित तत्कालीन घटनाओं का पता लगाकर जानकारीयों सामने लाई गई थीं। मध्यप्रदेश में यह काम मशहूर इतिहासविद प्रो. बी. एन. लूनिया ने पूर्ण किया। कई प्रसंग सामने आए और वे इतिहास का हिस्सा बने।

यह साल 1857 का 150 वाँ वर्ष है 2007-08। सुना तो यहाँ तक गया था कि न केवल भारत बल्कि पाकिस्तान और बांग्लादेश मिलकर 1857 संबंधी क्रांति की 150वीं वर्षगांठ के समारोह आयोजित करेंगे। महासंघ स्तर पर उन अविभाजित यादों को संजोया जाएगा और तीनों ही देशों की जनता अपने महान

124 / 1857 : इतिहास और साहित्य

क्रांतिकारियों का स्मरण करेगी। किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ और यह सब एक सपना बनकर रह गया। शुरू-शुरू में भारतीय दूरदर्शन ने कुछ उत्साह का प्रदर्शन किया कुछ सामग्री दिखाई। कुछ किस्से कहानी सुनाए और धीरे-धीरे वह सब एक औपचारिकता बनकर रह गया। सच कहूँ तो बाजार 1857 को लील गया। कुछ साहित्यिक पत्रिकाओं उद्भवाना, वर्तमान साहित्य, नया पथ आदि ने अपने विशेषांक जरूर निकाले। इस बहाने प्रायः सामग्री संकलित करने का उपक्रम हुआ। कुछ अखबारों ने भी समय-समय पर अपनी ओर से जानकारीयाँ प्रकाशित कीं। लेकिन समग्रतः उस जनविप्लव को लेकर जो जनजागरण होना था और क्रांति की उस महान विरासत का प्रसार होना था, तीनों देश की जनता को एकजुटता में बंधना था उन सारी सम्भावनाओं को बाजार ने धूमिल कर दिया और यह महान विरासत इस 150वें वर्ष में मात्र औपचारिकता बनकर ही रह गई। बाजार इतिहास पर हावी हो गया।

बाजार शायद यही चाहता भी था? इसीलिए ब्रिटिश साम्राज्य की डंडा बेड़ी, जुल्म ज्यादाती, काला पानी, कठोर यातनाओं को विलोपित कर गाँधी के सत्य, अहिंसा, स्वदेशी व सत्याग्रह को आजादी का सारा श्रेय दिया जाने लगा। बड़े-बड़े किसान विद्रोह, मजदूर हड़तालें, क्रान्तिकारी संघर्ष, रक्त रंजित मुठभेड़ें, इतिहास की वस्तु बनती गई। अंग्रेजों ने तब अपनी जरूरत के अनुसार देश से बाबुओं की फसल काटी थी आज के मल्टी नेशनल्स अपने लिए प्रबंधकों की फसल काट रहे हैं। सीए, सीएस, मैनेजर्स, इंजीनियर्स आदि आज बाजार की मुख्य आवश्यकता बन गए हैं और भारत काफी उपजाऊ सिद्ध हुआ है। जो चाहिए ले जाइए। हमारी 'प्रतिभा' की विकाऊ माल से अधिक कोई अहमियत नहीं रह गई है। ऐसे में भला इतिहास को जानने की, समझने की दरकार किसे है? यह बहुत ही गंभीर किस्म की ऋणात्मकता है जिससे हमारी नई पीढ़ी को बचाना होगा। उन्हें अपने संघर्षशील इतिहास से रूबरू कराना आज की महती आवश्यकता है।

अंग्रेज देश में ईस्ट इण्डिया कंपनी के रूप में व्यापार करने ही आए थे। कहते हैं ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता था। दिन, हफ्तों, महीनों और वर्षों पर वर्ष गुजरते गए। व्यापारी शासक बन बैठे। वे सरकार चलाने लगे। जनता पर जुल्म बढ़ते गए। जब अत्याचारों की इन्तिहा हो गई तब 1857 हुआ। ठीक सौ सालों के कंपनी राज्य की चूलें हिल गई। कंपनी राज को इस जनविप्लव के कारण जाना पड़ा किंतु देश को स्वतंत्रता नसीब नहीं हुई। कंपनी राज का स्थान विक्टोरिया के राज ने ले लिया। दमन और गहरा हुआ। अत्याचार और बढ़े... तो विद्रोह भी बुलंद हुआ। "कितने बाजू कितने सर गिन ले दुश्मन ध्यान से जीतेंगे हम बाजी हर खेलेंगे जी जान से।" और स्वतंत्रता का अहम् संघर्ष, अंतिम लड़ाई हमने जीत ली।

किंतु यह आजादी, राजनीतिक आजादी तो थी पर आर्थिक आजादी, सामाजिक समानता अभी भी बाकी है। धार्मिक सहिष्णुता अभी भी बन नहीं पाई। सरकारों की मानें तो देश तेजी से विकास कर रहा है। हमारी अर्थव्यवस्था मजबूत हो रही है। रुपया-डॉलर पर भारी है। किंतु इन दावों का दूसरा पहलू भी है कि किसान तेजी से आत्महत्याएँ कर रहे हैं। प्रतिभा पलायन तेजी से हो रहा है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था दम तोड़ रही है। कृषि में विकास दर दयनीयता को प्राप्त है। लोग सुखी क्यों नहीं हैं? जन साधारण तक विकास के फायदे आखिर पहुँच क्यों नहीं रहे हैं? आदि प्रश्न मुँह बाएँ खड़े हैं।

1857 के कंपनी राज के जुल्म का शिकार बनकर हुए थे। हाथकरघा उद्योग मैनचेस्टर की भेंट चढ़ गया और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत के इस करघा उद्योग तथा बुनकरों को वरबाद कर दिया। कुछ इसी तरह की स्थितियाँ हम 2008 में भी देख सकते हैं कि विकास की इस अंधी दौड़ का सबसे सीधा असर किसानों पर हुआ। विदर्भ, आन्ध्र, कर्नाटक, मध्यप्रदेश आदि स्थानों पर किसानों को बेतहाशा आत्महत्या करनी पड़ी। सरकार उन्हें संरक्षण देने में विफल रही। कर्ज माफ करना समस्या का स्थायी निदान नहीं है। जब तक हम किसान के उत्पाद को लाभदायक स्थिति में नहीं ले आते तब तक वह इन त्रासद विडम्बनाओं को झेलने के लिए अभिशप्त है और तब तक किसान मरते रहेंगे।

यद्यपि कृषि की वृद्धि दर में लगभग दो गुना सुधार आया है। किन्तु मूल स्थिति में अभी भी कोई उल्लेखनीय बदलाव देखने को नहीं मिलता है। बड़ा किसान नगद फसलों के इन्वेस्टर्स भले मार्केट से लाभान्वित हो रहे हों सामान्य किसान की माली हालत बिल्कुल नहीं बदली है वह तो आज भी बेशुमार कर्ज में डूबा हुआ है और आत्महत्या को विवश है। देश में विदेशी पूँजी का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। वस्त्रोद्योग पूरी तरह वरबाद हो चुका है और उसके कई मजदूरों ने रोजगार के अभाव में मृत्यु को गले लगाया है। किन्तु राजनीति में मुनाफे की राजनीति निरन्तर जारी है। नेताओं का पैसा देशी बैंकों से अधिक विदेशी बैंकों में लगा हुआ है और जरूरत की सारी वस्तुएँ उन्होंने अपने तथा अपने परिवार के लिए विदेशों में जमा कर रखी हैं। लोग भले कंगाल हुए हों, कर्जदार हुए हों—राजनीति और राजनेता मालामाल हुए हैं। वित्तीय पूँजी, म्यूचुअल फंड्स यहाँ तक कि पीएफ तथा पेंशन का पैसा भी सट्टे की भेंट चढ़ाकर सरकार किस कल्याणकारी राज्य का सपना पूरा करने जा रही है?

भारत (जन्त) के विकास की हकीकत किसी से छिपी हुई नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, एशिया विकास बैंक तथा ऐसी ही अन्य कई वैश्विक वित्तीय संस्थाओं के अरबों डॉलर न केवल भारत के विकास में महती भूमिका निभा रहे हैं बल्कि तीसरी दुनिया के अनेक देशों का ढाँचागत विकास तो इन्हीं वित्तीय संस्थाओं के पोषण पर ही निर्भर करता है। हम देश में विदेशी वित्तीय पूँजी के निवेश की अधिकृत

अनुमति दे चुके हैं। मल्टीनेशनल्स तेजी से अपने पैर पसारने में लगे हैं। 'विशेष आर्थिक क्षेत्र' तीव्र गति से देशी विदेशी पूँजी पर प्रश्रय पा रहे हैं। वे कुकुरमुत्तों की तरह उगने लगे हैं। खेती किसानों के अलावा छोटे उद्यमी, कारोबारी, कारखानेदार आदि विकास की भेंट चढ़ रहे हैं। हमारी निर्भरता विदेशी अर्थनीति पर बढ़ती जा रही है। घरेलू मार्केट शेयर बाजार का मुँह ताकता रहता है। मुद्रा स्फीति पर नियंत्रण के बावजूद महँगाई पर काबू नहीं है। अमेरिकन मंदी का असर हमारी अर्थव्यवस्था पर तुरंत पड़ता है!

जहाँ तक विदेशी पूँजी के निवेश का सवाल है वह अनग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग रूप से लगाई गई है। कई क्षेत्रों में 51 प्रतिशत तो दूसरे अनेक क्षेत्रों में 100 प्रतिशत तक पूँजी का निवेश हुआ है अर्थात् फिर एक बार बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ विदेशी पूँजी के मकड़जाल में देश को फँसती जा रही हैं। सीधे-सीधे न सही पर इन कंपनियों में लगने वाला धन प्रकारान्तर से सरकार पर अपनी मर्जी, अपनी शर्तें और अपने फैसले न केवल लादता ही जा रहा है बल्कि उन्हें मनवाने के लिए भी बराबर दबाव बनाए रहता है।

ये ही वे सारी दुरावस्थाएँ हैं जो हमें कंपनी राज के इतिहास पर दृष्टि डालने को बाध्य करती हैं। ऊपर-ऊपर से सरसब्ज व कामयाब दिखने वाली हमारी अर्थव्यवस्था पर वैश्विक वित्तीय संस्थाओं का भारी कर्ज व उसके सूद का बोझ हमारी अर्थव्यवस्था की कमर तोड़ने के लिए पर्याप्त है। इसकी कीमत हमारी वारगेनिंग क्षमता पर निर्भर करती है किंतु चुकाना तो पड़ेगा ही? इन प्रपंचों व पेचीदगियों को समझने के लिए भी इतिहास में जाना जरूरी है।

संयुक्त सैन्य अभ्यास हमारे भले के लिए नहीं है। सेटेलाइट जासूसी से आज हमारा कुछ भी छिपा नहीं। अमेरिकी सैन्य बेड़ा हमारी सागर सीमाओं में चहलकदमी कर रहा है। बारूद के एक ढेर पर बैठी यह दुनिया, कभी भी एक बटन दबाने मात्र से राख के ढेर में परिवर्तित हो सकती है! इन सारी स्थितियों को साफ-साफ देखने के लिए भी हमें अपने इतिहास के अंधेरे उजले पक्षों को समझ लेने की आवश्यकता है। बेबाक व दो टूक। उजाले अपनी यादों के (इतिहास की) हमारे पास रहने दो (नई पीढ़ी के साथ!) न जाने किस गली में जिन्दगी की शाम हो जाए!

अमेरिका को एशिया में चाहिए एक सैन्य ठिकाना तो वह भारत या चीन तो हो नहीं सकता? म्यामाँर व पाकिस्तान से ही उसे उम्मीद हो सकती है क्योंकि तालिबानी तो वैसे ही दाँतों तले अंगुली चबवा चुके हैं अतएव हर कदम पर सतर्क रहना व सतर्कता के साथ दुश्मन की आगामी चालों का पूर्वानुमान करते हुए स्वयं विकास के रास्ते पर आगे बढ़ने के लिए भी स्पष्ट इतिहास दृष्टि का होना भी आत्मनिर्भरता की आवश्यक शर्त है। अतीत से सीखते हुए भविष्य की राह पकड़ना चाहिए। आमीन!

□□

संकेतिका

1. चार्ल्स मेटकाफ : ए.आर.देसाई : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि (हिन्दी, मैकमिलन, दिल्ली 1976) पृष्ठ-6.
2. कार्ल मार्क्स : पूँजी खण्ड-1 प्रगति प्रकाशन-मास्को, पृष्ठ-404.
3. वी. एफ कैलवर्टन : द अवेकनिंग ऑफ अमेरिका-(1939) पृष्ठ16-17
4. मार्क्स, एंगेल्स : गेसामटौसगाबे-I-VI पृष्ठ-179
5. लेनिन : सिलेक्टेड वर्क्स VII पृष्ठ-295
6. हेन्स कॉन : आइडिया ऑफ नेशनलिज्म (मैकमिलन न्यूयॉर्क-1945) पृष्ठ-4
7. मार्क्स, एंगेल्स : सोचिनेनिया, खण्ड-12, पृष्ठ-241
इनके अतिरिक्त जिन अन्य पुस्तकों से मुख्य सहायता मिली, आधार जानकारी संग्रहित करने में वे हैं :
8. भारत का मुक्ति संग्राम : अयोध्या सिंह।
9. भारतेन्दु और उनका युग : डॉ. रामविलास शर्मा।
10. लेनिन और भारत (एक ऐतिहासिक अध्ययन) : एरिक कोमारोव।
11. इतिहास क्या है : ई.एच.कार
12. दस्तमू : मिर्जा ग़ालिब (अब्दुल विस्मिल्लाह द्वारा संपादित)
13. Ghalib : Ali Sardar Jafri & Qurratulain Hyder
14. A history of the sikhs : Volume-2 1839-1974 : Khushwant Singh.
15. A History of India Part-II : by K. Antonova, G Bongard Levin, G. Kotovsky.
16. Karl Marx : Notes on Indian History.
17. Eighteen Fifty Seven by Surendra Nath Sen.
18. Phases of Freedom in Madhya Bharat-1857 : Pro. B.N. Luniya.
19. मराठी के उपन्यासकार बाबा भांड का उपन्यास—टंट्या।

128 / 1857 : इतिहास और साहित्य

SPS

954.0317 N 29 E



तनों से
न 23
देश
आयोगि
टोग्राफ
लेख
के
आ
एव
भेड़िय
परी
98,

ट्रेड यूनियन आंदोलनों से
रेल हड़ताल के दौरान 23
मीसा में निरुद्ध। देश
लेखक सम्मेलन आयोजित
पत्रकारिता एवं फोटोग्राफ
संबद्धता। 'जनवादी लेख
जुड़े हैं।

सम्प्रति : 'नई दुनिया, इंदौर' के
विभाग में कार्यरत। आ
-निबन्धों की दो, एव
संग्रह—'वह रहा भेड़िय
आत्मकथात्मक डायरी
कार्यरत।

संपर्क : डी-10 योजना क्रम 98,
इंदौर।

2008 Cloth (Hb) Rs. 300/-

ISBN : 978-81-907010-2-0

ट्रेड यूनियन आंदोलनों से जुड़े रहे। रेल हड़ताल के दौरान 23 दिनों तक मीसा में निरुद्ध। देश स्तरीय कई लेखक सम्मेलन आयोजित किए। पत्रकारिता एवं फोटोग्राफी से लंबी संबद्धता। 'जनवादी लेखक संघ' से जुड़े हैं।

सम्प्रति : 'नई दुनिया, इंदौर' के संपादकीय विभाग में कार्यरत। आलोचनात्मक-निबन्धों की दो, एक कविता संग्रह—'वह रहा भेड़िया!' तथा आत्मकथात्मक डायरी लेखन पर कार्यरत।

संपर्क : डी-10 योजना क्रम 98, नवलखा, इंदौर।

2008 Cloth (Hb) Rs. 300/-

ISBN : 978-81-907010-2-0

निर्मल शर्मा की प्रस्तुत पुस्तक '1857 : इतिहास और साहित्य' की मूल स्थापना ही यही है कि—'बलवा अथवा गदर नहीं था-1857'। कंपनी राज की बर्बरता और जुल्म ज्यादातियों से निपटने पाने की उत्कट इच्छा ने ही इस स्वतंत्रता संग्राम को जन्म दिया था जो संघर्षों की लंबी श्रृंखला के अशक्त परिणति के रूप में इतिहास में दर्ज हुआ।

निर्मल शर्मा लीक से हटकर यह भी संकेत करते हैं कि—स्वाधीनता का यह संग्राम कंपनी राज की विदाई में तो सफल रहा किंतु 'स्वाशासन' स्थापित नहीं किया जा सका। कंपनी राज के स्थान विक्टोरिया के शासन ने ले लिया जिसने अधिक पाशविक, अमानवीय और बर्बरता की मिसालें दीं।

निर्मल मानते हैं कि एक तरह से यह ठीक ही हुआ। स्वतंत्रता का जो ज्वाला देशवासियों में जाग चुका था उसने लोगों को लड़ना, मरना और काले नेत्रों का खर होना सिखा दिया था। आत्मोत्सर्ग की यह भावना ने केवल निर्मल नहीं रही बल्कि प्रेरणा का भंडार भी हुई और देश 1947 में स्वतंत्र हो सका। वरना यदि कंपनी राज के बाद राजा महाराजे, नवाब सामंत काबिज हो जाते तो हमारे संघर्ष की धार न केवल कुंद होती अपितु तब '1947' न जाने कितना दूर आगे बला गया होता! सामंत सरदारों के हाथों में आती आती सत्ता का फिसल जाना देश की स्वतंत्रता के हान में ही रहा।

हिन्दू मुस्लिम एकता के कंपनी को नाको खने चबवा दिए थे। 'फूट डालो और राज करो' को 1857 के बाद विक्टोरिया के शासन ने अपनी अधिकृत रणनीति के रूप में अपनाया जिसकी परिणति भारत पाक विभाजन के रूप में सामने आई।

यह पुस्तक इतिहास के साथ-साथ तत्कालीन साहित्य के उत्तम चढ़ावों पर पर्याप्त रोशनी डालती है? 1857 को लेकर कैसे जमाने के मशहूर शायर उर्दू के शेर का पुरुष मिर्जा गालिब, अपने विवादास्पद कथनों के कारण खुद को आपराधिक कटोरे में खड़ा पाते हैं?

संघर्षों और निर्मल शर्मा में रिश्ते बहुत पुराने हैं। मरना, चाहे—अ भा रेल हड़ताल में अगुआई करते हुए मीसा में निरुद्ध होने का रहा हो या फिर 'कंक' के जमाने की कविता अंक के विवादित संपादकीय को लेकर इंदिरा गांधी (पी.एम.ओ.) के कार्यालय का कोपभाजन बनकर आजीविका से हाथ धो बैठने का। पग-पग संघर्ष से तिल-तिल सीखते रहने की प्रवृत्ति ने ही उन्हें इतिहास के प्रति इस कदर दो दूक बनाया। इसी विषय पर उनका एक लंबा लेख स्वराज पुस्तक माला के अंतर्गत हाल ही में मध्यप्रदेश शासन के संस्कृति विभाग ने भी '1857 बलवा नहीं मुक्ति संग्राम' शीर्षक से छापा है।



अकादमिक प्रतिभा

.....प्रतिभा का संग्राम

42, एकता अपार्टमेंट, गीता कालोनी
दिल्ली-110031 (भारत)

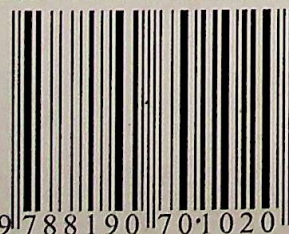
दूरभाष : 011-22453953 / 09899242486

ई-मेल : info@indianacademicpublisher.com

वेबसाईट : www.academicpratiभा.com

Rs. 300/-

ISBN : 978-81-907010-2-0



9 788190 701020